ISSN: 0971-8478

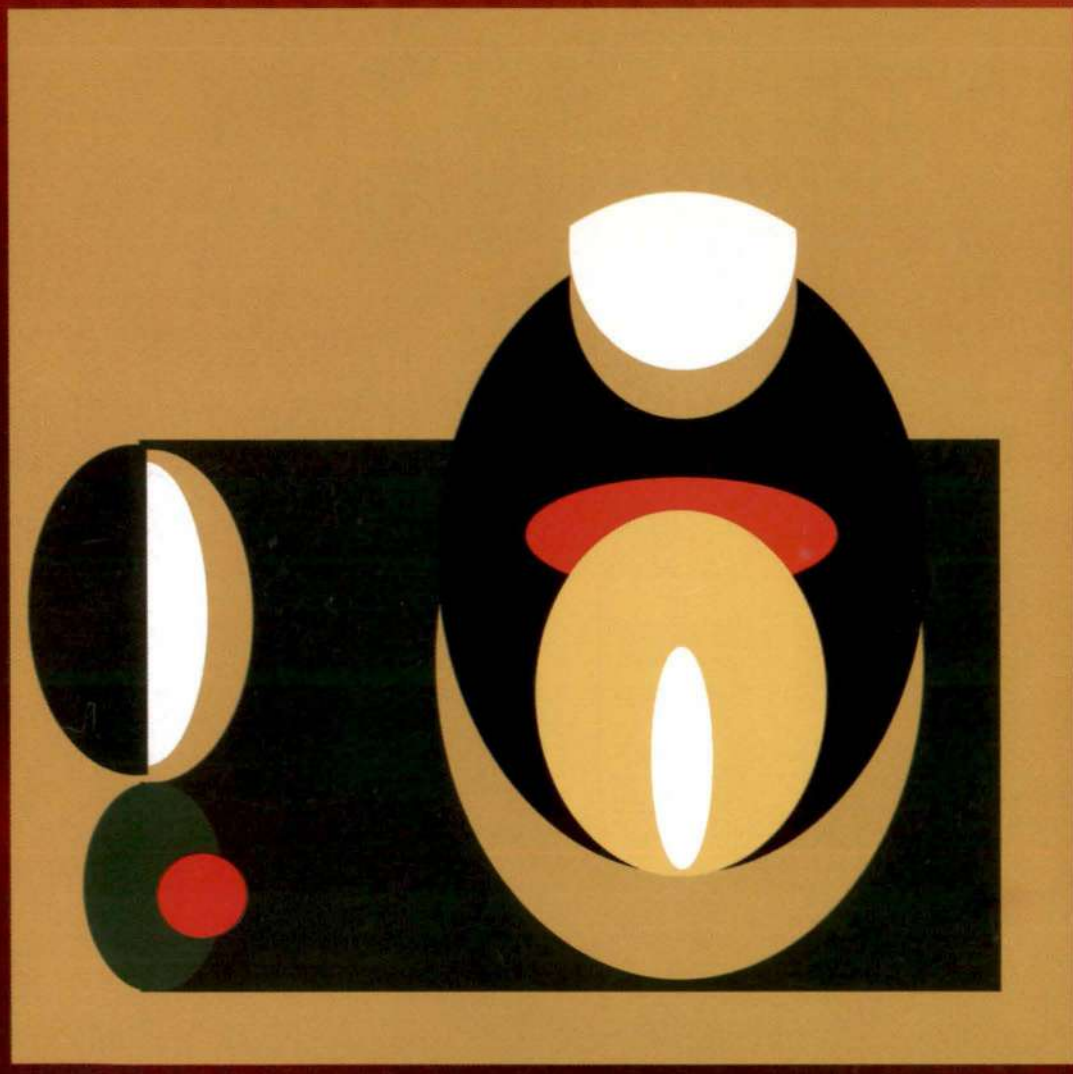
दिसंबर 2019

₹ 22

आजकल

1945 से निरंतर प्रकाशित

साहित्य और संस्कृति का मासिक



लेख : ● गिरधर राठी ● प्रयाग शुक्ल ● हरिमोहन मिश्र ● नंदकिशोर नंदन ● रणजीत साहा ● अरुण होता ● चित्रा शर्मा ● राकेश कुमार अग्रवाल ● आशीष सिंह

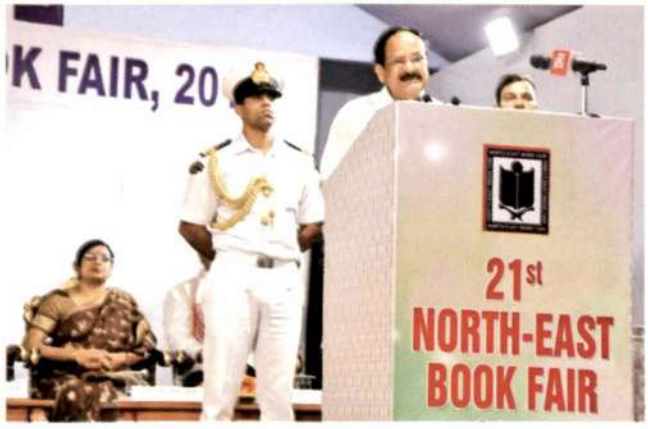
कहानियाँ : ● सुरेंद्र मनन ● राजा सिंह ● रश्मि शर्मा

ग़ज़लें : ● ज्ञानप्रकाश विवेक

कविताएँ : ● मणि मोहन ● शोभा सिंह ● शरद रंजन शरद ● राकेश मिश्र ● पुरु मालव

21वां नॉर्थ-ईस्ट पुस्तक मेला

'कोर्ट्स ऑफ़ इंडिया-पास्ट टू प्रेज़ेंट' के असमिया संस्करण का लोकार्पण





उपराष्ट्रपति एम. वेंकैया नायडु ने असम के राज्यपाल जगदीश मुखी, मुख्यमंत्री सर्बानंद सोनोवाल की उपस्थिति में गत 1 नवंबर 2019 को गुवाहाटी में 21वें नार्थ-ईस्ट पुस्तक मेले का उद्घाटन किया। 1 से 12 नवंबर तक चले इस पुस्तक मेले का आयोजन असम पब्लिशर्स एंड बुक सेलर्स एसोसिएशन द्वारा किया गया था।



10 नवंबर, 2019 को भारत के मुख्य न्यायाधीश रंजन गोगोई ने प्रकाशन विभाग द्वारा संकलित और प्रकाशित 'कोर्ट्स ऑफ इंडिया–पास्ट टू प्रेज़ेंट' पुस्तक के असमिया संस्करण का लोकार्पण भी किया। इस पुस्तक में न्यायालय संबंधी विभिन्न घटनाक्रमों की झलक मिलती है। साथ ही भारतीय न्यायालयों की न्यायिक व्यवस्था की विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। न्यायमूर्ति गोगोई ने कहा कि यह पुस्तक भारतीय न्यायिक व्यवस्था को बड़े ही सरल ढंग से प्रस्तुत करती है। उन्होंने इस बात पर विशेष ज़ोर दिया कि क़ानून के विद्यार्थियों को यह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिए।

मुख्यमंत्री सर्बानंद सोनोवाल ने विश्वास दिलाया कि इस पुस्तक को सभी सरकारी पुस्तकालयों में उपलब्ध कराई जाएगी। न्यायमूर्ति शरद अरविंद बोबडे ने इच्छा ज़ाहिर की कि इस पुस्तक को अन्य भाषाओं में भी अनूदित होना चाहिए। इस समारोह में अन्य गणमान्य अतिथियों के साथ-साथ ऑल इंडिया रेडियो और प्रकाशन विभाग की प्रधान महानिदेशक ईरा जोशी भी उपस्थित थीं। उन्होंने भी मेले का जायज़ा लिया और अपने विचार प्रकट किए।

ट्रस्टीशिप और सामाजिक न्याय

प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार ने महात्मा गाँधी की 150वीं जयंती के अवसर पर 'ट्रस्टीशिप और सामाजिक न्याय' पर परिचर्चा का आयोजन किया। यह कार्यक्रम 23 अक्तूबर, 2019 को विभाग की पुस्तक दीर्घा में आयोजित किया गया। इस कार्यक्रम के मुख्य वक्ता पत्रकार गाँधीवादी विषयक पुस्तकों के लेखक अरविंद मोहन थे। इस कार्यक्रम में अरविंदजी ने



गाँधी के जीवन, उनकी नज़र में संगठन की उपयोगिता और न्यासधारिता के प्रति उनके विचारों पर प्रकाश डाला। उन्होंने बताया कि गाँधी स्वयं किस प्रकार सामूहिकता और समाज से जुड़े थे और समाज कल्याण से जुड़े उनके कार्य किस तरह कार्यान्वित होते थे।

इस कार्यक्रम में विभाग की प्रधान महानिदेशक ईरा जोशी, अन्य वरिष्ठ अधिकारी और कर्मचारी तथा अन्य श्रोतागण उपस्थित थे।

ISSN-0971-8478

स्थापित 1945

आजकल

वर्ष : 75, अंक : 8, पूर्णांक : 901
दिसंबर, 2019, अग्रहायण–पौष 1941

प्रधान संपादक
राकेशरेणु

संपादक
फरहत परवीन
आवरण चित्र : **वेद प्रकाश भारद्वाज**
आवरण सज्जा : **राजेश कुमार**

संपादकीय पत्र व्यवहार :
संपादक
आजकल, प्रकाशन विभाग
कमरा नं. 601डी, सूचना भवन
सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड,
नई दिल्ली-110003
फ़ोन : 2436 2915
ईमेल : ajkalhindi@gmail.com
website : www.publicationsdivision.nic.in
फेसबुक www.facebook.com/
publicationsdivision

संयुक्त निदेशक (उत्पादन)
वी. के. मीणा

सदस्यता शुल्क :
वार्षिक : 230 रुपए, दो वर्ष : 430 रुपए
तीन वर्ष : 610 रुपए

सदस्यता संबंधी पूछताछ :
व्यापार व्यवस्थापक
कमरा नं. 56, सूचना भवन
सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड,
नई दिल्ली-110003
फोन नं. 011-24367453
ई-मेल : pdjucir@gmail.com
helpdesk.dpd@gmail.com
टाइपसेट : **एजुकेशनल स्टोर्स, लेजर टाइप सेटिंग**

इस अंक में

लेख

6. गिरधर राठी का लेखन – **प्रयाग शुक्ल**
8. साक्षात्कार : अभी कई काम करने हैं (गिरधर राठी से बातचीत) – **हरिमोहन मिश्र**
12. मूल्यांकन : सभ्यतालोचन की एक नई पहल – **नंदकिशोर नंदन**
14. गिरधर राठी की कविताएँ – ----
15. कविता एक आवर्ती घटना होती है – **गिरधर राठी**
22. ऐतिहासिक उपन्यासों के सम्राट – **राकेश कुमार अग्रवाल**
25. त्रिलोचन : पथ के आघातों का स्वागत – **आशीष सिंह**
29. स्वयं प्रकाश की कहानियाँ – **गौरव भारती**
30. कला : एक परिपूर्ण कला जीवन – **रणजीत साहा**
42. साक्षात्कार : बाँसुरी का अदेखा अंत:करण (राजेंद्र प्रसन्ना से बातचीत) – **चित्रा शर्मा**
51. आम्बेडकर : एक मूल्यांकन – **डब्ल्यू.एन. कुबेर**
52. हमारा संविधान – **सुभाष काश्यप**
53. संगीत आजकल : संगीत में सौंदर्य – **पं. विजयशंकर मिश्र**
56. मूल्यांकन : सपने में सिर्फ़ सपना होता – **अरुण होता**

कहानी

20. बाँसुरी – **सुरेंद्र मनन**
34. पुन: – **राजा सिंह**
47. घनिष्ठ-अपरिचित – **रश्मि शर्मा**

कविताएँ

17. छह ग़ज़लें – **ज्ञानप्रकाश विवेक**
18. छह कविताएँ – **मणि मोहन**
19. दो कविताएँ – **शोभा सिंह**
44. दो कविताएँ – **शरद रंजन शरद**
45. सात कविताएँ – **राकेश मिश्र**
46. चार कविताएँ – **पुरु मालव**

पुस्तक परिचय

58. मेरे गाँधी
आधुनिक भारत के निर्माता : सरदार वल्लभभाई पटेल – **रेमी कुमारी**

हमारे विक्रय केंद्र : **नई दिल्ली:** सूचना भवन, सी.जी.ओ. कांप्लेक्स, लोदी रोड, दूरभाष : 011-24367260, **लखनऊ** : हाल नं. 1, दूसरी मंजिल, केंद्रीय भवन, अलीगंज, दूरभाष : 0522-2225455, **कोलकाता:** 8, एस्प्लेनेड ईस्ट, दूरभाष : 33-22488030, **पटना** : बिहार रा. सह. बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, दूरभाष : 0612-2683407, **मुम्बई** : 701 बी-विंग, सातवीं मंजिल, केंद्रीय सदन बेलापुर, नवीं मुम्बई, दूरभाष : 9522-27570686, **बंगलुरू** : एफ विंग, केंद्रीय सदन, कोरामंगला दूरभाष : 080-25537244, **अहमदाबाद** : अखंडानंद हॉल, द्वारा पत्र सूचना कार्यालय, द्वितीय तल, सीएनआई चर्च के पास, मदर टेरेसा रोड, पद, दूरभाष : 079-26588669, **हैदराबाद** : कमरा नं. 204, द्वितीय तल, सी.जी.ओ. टॉवर्स, कावादि गुडा-500080, **चेन्नई** : राजाजी भवन, बेसेंट नगर, दूरभाष : 044-24917673, **तिरुअनंतपुरम** : गवर्मेंट प्रेस के निकट, दूरभाष : 041-2330650

प्रसंगवश

तब की बात है जब राठीजी साहित्य अकादेमी की पत्रिका 'समकालीन भारतीय साहित्य' का संपादन कर रहे थे। उनकी धीर-गंभीर मुद्रा कभी-कभी मन में भय उत्पन्न करती। लेकिन उनसे एक-दो बार बातचीत के बाद ही इस बात की आश्वस्ति हो चुकी थी कि उनके भीतर एक मिलनसार और सरल-तरल हृदय है। उनमें आपको सुनने का धीरज है। वे आपके बड़बोलेपन को भी चुपचाप बर्दाश्त करेंगे, आपको ज़रूरी स्पेस देंगे फिर आखिर में जरूरी हुआ तो कुछ सलाह। आप क्या करना चाहते हैं, वह आप पर छोड़ देते हैं। एक जनतांत्रिक एप्रोच उनका हमेशा बना रहता जहाँ वे आरोपित करने की स्थिति में होने के बावजूद खुद को कभी आरोपित नहीं करते। चयन और निर्णय का अधिकार आपका होता। अगर आप निर्णय न कर पा रहे हों, तभी वे सलाह देने के लिए आगे आते।

राठीजी समीक्षा के लिए आमतौर पर तीन, चार या पाँच किताबों का एक सेट देते जिन्हें एक सूत्र में पिरोकर लेख तैयार करने की चुनौती होती। इस तरह वे एक साथ आपके समक्ष चुनौती पेश कर रहे होते, आपको परख रहे होते और साथ ही माँज रहे होते, आगे आने वाली चुनौतियों के लिए तैयार कर रहे होते। इस बात का ख़्याल हाल ही में लोकार्पित उनकी किताबों में से 'कल आज और कल' का वह लेख पढ़ते हुए आया जिसमें राठीजी, मार्क टली, टिम मैकिन्टोस-स्मिथ और सुकेतु मेहता की अंग्रेज़ी की तीन अलग-अलग नॉन फ़िक्शन किताबों में एक साथ यथार्थ, तथ्य और फ़िक्शन के सूत्र स्थापित करते हैं। इस प्रक्रिया में वे दूसरी बहुत-सी बातें बताते हैं। एक के बाद एक चीज़ें खुलती जाती हैं और परस्पर मिलकर एक बड़ा कैनवस, एक बड़ा फलक तैयार हो जाता है जो कहीं से भी आरोपित नहीं लगता, उनमें एक अंतर्गठन, एक क़िस्म का रचाव नज़र आता है।

ऐसा क्यों होता है? इसकी वजह ये है कि गिरधर राठी एक बहुपठित व्यक्ति हैं। पढ़ना, ढेर सारी और दुनियाभर की किताबें पढ़ना उनकी कमज़ोरी है। इसलिए उनके लिखे में—कविता हो या गद्य—उनके अध्ययन का यह ज़ख़ीरा बार-बार प्रकट होता है किताबों के या उनके लेखकों के नाम के रूप में, उनके उद्धरणों के रूप में। और इनसे, उनकी रचना अपना स्वरूप पाती है, विस्तार और रोचक प्रवाह पाती है।

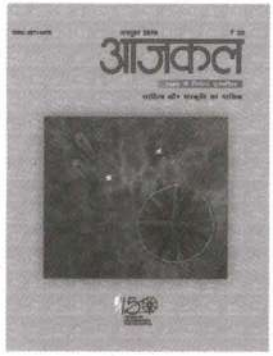
गिरधर राठी भविष्यद्रष्टा लेखक हैं। अपने एक लेख में वे आने वाले वक़्त में लेखकों को ब्रांड बनाने और उनका कारपोरेट्स व व्यवसायियों द्वारा इस्तेमाल किए जाने की आशंका व्यक्त करते हैं। वे 'पाठक ढूँढती किताबें' शीर्षक लेख का आरंभ ही इस तरह करते हैं—"साहित्य जगत की सबसे दिलचस्प ख़बर लंदन से आई है। सलमान रुश्दी जैसे प्रसिद्ध लेखकों की महँगे पुरस्कारों से सजी लेखकों की पांडुलिपियाँ जब अनाम या गुमनाम लेखकों की ओर से प्रकाशन गृहों और लेखकों के एजेंटों को भिजवाई गईं तो वे वापस कर दी गईं। अब एक दूसरे खुफ़िया अभियान की तैयारी है। "पांडुलिपियाँ कम उम्र लेखिकाओं के नाम से भेजी जाएँगी। शायद वे तुरंत स्वीकृत हो जाएँ"। इसी लेख में आगे वे लिखते हैं कि "लंदन की घटना की पृष्ठभूमि दिलचस्प है। प्रकाशन की दुनिया को अब लेखक नहीं ब्रांड चाहिए। पाँचेक साल पहले (यानी कि लगभग सन 2000-01 में), फ़्रांस के सबसे प्रसिद्ध प्रकाशकों के नुमाइंदे दिल्ली आए थे। दूसरे महानगरों में भी वे गए। उन्हें तलाश थी ऐसे रचनाकारों की, जिनकी क़लम से उन्हें भविष्य में भी किताबें मिलती रहें। उद्देश्य—ब्रांड नेम। ('कल, आज और कल') यह लेख तब लिखा गया था जब भारत में कथित लिटरेचर फ़ेस्टिवलों की शुरुआत नहीं हुई थी। राठीजी लंदन में घट रही घटनाओं के हवाले से लेख लिख रहे थे लेकिन वह देख पा रहे थे कि जल्दी ही भारत जैसे विकासशील और अर्धशिक्षित देशों में भी आर्थिक खुलेपन और वैचारिक संगठनों के पतन के साथ इस तरह की बाज़ारोन्मुखी प्रवृत्ति की, साहित्य को उत्पाद बनाकर प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति की शुरुआत होने वाली है।

अब देखिए कि आज क्या हो रहा है! लेखकों को, ख़ासकर युवा और सुदर्शन लेखक-लेखिकाओं को, तरह-तरह के कार्यक्षेत्र से जुड़े लोगों के साथ फेंटकर किस तरह ब्रांड नेम बनाया जा रहा है। आज से लगभग एक दशक पहले जयपुर लिटरेचर फ़ेस्टिवल से भारत में लिट-फ़ेस्ट की शुरुआत हुई और एक मोटे अनुमान के अनुसार, आज देश में तीन सौ से ऊपर लिटरेचर फ़ेस्टिवल आयोजित होते हैं। साहित्य के नाम पर होने वाले इन आयोजनों में तरह-तरह के क्षेत्रों के लोग बुलाए जाते हैं—सिनेमा से लेकर राजनीति और खेल और अन्यान्य क्षेत्रों के लोग। साहित्य के लोग भी होते हैं, लेकिन वे जो या तो पहले से ब्रांड नेम हैं अथवा जिन्हें ब्रांड नेम बनाया जा सकता है। उनमें 'दिखने' पर ज़्यादा ज़ोर होता है, लिखने पर यानी लेखकीय अंतर्वस्तु पर कम। गिरधर राठी इस आने वाली प्रवृत्ति को पहले से देख रहे थे और प्रकारांतर से उसकी ओर इशारा कर रहे थे।

जितना उन्हें जान पाया, राठीजी बहुत ही मितभाषी, धैर्यवान और ईमानदार रचनाकार हैं। अवसर लपकने, अपने को प्रोजेक्ट करने और अपना-अपना ही कहने की आपाधापी में वे कभी नहीं रहे, बल्कि लेखकों की इन प्रवृत्तियों की आलोचना करते रहे। इसलिए दशकों तक अपने लिखे को प्रकाशित कराने की ओर भी वे सर्वथा उदासीन रहे। संभवत: इसीलिए गहरे अर्थों में वे एक 'निराकांक्षी कवि' हैं। उनके अमृत जयंती वर्ष में कुछ मित्र-हितैषी साहित्यकारों, संस्थाओं के प्रयास से उनकी नौ पुस्तकें एक साथ प्रकाशित-लोकार्पित हुई हैं।

हिन्दी में किसी स्तरीय रचनाकार की एक साथ इतनी किताबें एक साथ आई हों, ऐसा कम ही होता है लेकिन इसका त्वरित लाभ यह हुआ कि हिन्दी समाज के स्मृति पटल पर गिरधर राठी फिर उभर आए हैं। उनकी ताज़ा प्रकाशित किताबों पर चर्चा अभी होती रहेगी लेकिन साथ ही यह भी ज़रूरी है कि उनके अप्रकाशित बचे लेखन का प्रकाशन भी यथाशीघ्र हो।

● पत्र



विलक्षण अंक

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी और कस्तूरबा की 150वीं जयंती के अवसर पर प्रकाशित 'आजकल' का अक्तूबर अंक ऐतिहासिक अंक है। निस्संदेह यह अंक गाँधीजी के जीवन और उनके महान् आदर्शों से आज की युवा पीढ़ी को जोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाएगा।

'मौजूदा सदी में गाँधी' एक गंभीर और शोधपूर्ण आलेख लगा। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में गाँधी और उनका दर्शन पहले से अधिक प्रासंगिक हो उठा है। संपूर्ण विश्व आज जिस हिंसा, छल और प्रपंच के दौर से गुज़र रहा है, ऐसी विकट परिस्थितियों में महात्मा के बताए सत्य, अहिंसा और शांति के रास्ते पर चल कर ही हम दुनिया को बचा सकते हैं।

वरिष्ठ समाजशास्त्री सतीश देशपांडे से सहमत हूँ। गाँधी और उनकी विचारधारा के प्रति हमें एक व्यापक दृष्टिकोण अपनाना होगा।

'गाँधी का भारतीय साहित्य पर प्रभाव' भारतीय साहित्य पर गाँधी के प्रभाव का गहन अध्ययन पर आधारित सुंदर विश्लेषण है। गाँधीजी का व्यक्तित्व इतना विराट था कि उसका असर जीवन और समाज के हरेक पहलू पर पड़ा। साहित्य भी इससे अछूता नहीं रह सका। आज भी प्रेमचंद और जैनेंद्र कुमार जैसे कालजयी साहित्यकारों की रचनाएँ हमारे भीतर गाँधीवादी मूल्यों की अलख जगाती हैं।

'हिन्दी के बिना स्वराज संभव नहीं' आलेख हिन्दी भाषा के उत्थान के लिए किए गए गाँधीजी के अथक प्रयासों के संबंध में विस्तृत चर्चा प्रस्तुत करता है। अरविंद मोहन का आलेख 'आधा गाँधी थीं कस्तूरबा' असाधारण सेवाभाव, वात्सल्य और त्याग से परिपूर्ण 'बा' के अनुकरणीय व्यक्तित्व को पाठकों के समक्ष रखता है।

कुल मिलाकर इस अंक को एक विलक्षण अंक की संज्ञा दी जा सकती है जिसे लंबे समय तक याद रखा जाएगा।

-नीरज कुमार झा
दरभंगा

दुर्लभ और बेजोड़

'आजकल' अक्तूबर 2019 अंक पढ़ा। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी को 'प्रसंगवश' में बहुत ही सार्थक शब्द का प्रयोग करते हुए ऐतिहासिक व्यक्तित्व की संज्ञा से विभूषित किया गया है, वह शत-प्रतिशत सत्य है। गाँधीजी अपनी आंतरिक शक्ति, आत्मबल, सत्य और अहिंसा की साधना के बल पर महात्मा बन गए थे। यह तथ्य भी अक्षरश: सत्य है।

वर्षा दास के लेख से हिंसा-अहिंसा का अर्थ साफ़-साफ़ स्पष्ट हो जाता है कि कुविचार, उतावलापन, मिथ्या-भाषण एवं द्वेष-हिंसा के विविध रूप हैं। गाँधीजी की पुस्तक 'हिंद स्वराज' की यह पंक्ति कितनी साहित्यिक बन पड़ी है कि 'धतूरे का पौधा लगा कर मोगरे के फूल की इच्छा नहीं की जा सकती।' विमल कुमार के लेख से ज्ञात होता है कि गाँधीजी ने 'नवजीवन' में लिखा है कि विदेशी भाषा ने बच्चों का दिमाग़ शिथिल कर दिया है, उन्हें रट्टू और नक़लची बना दिया है। अरविंद मोहन के लेख से कस्तूरबा गाँधी के विशाल व्यक्तित्व का पता चलता है। कमल किशोर गोयनका की लेखनी से गाँधीवादी पत्रकारिता के महीन पहलुओं का अवलोकन होता है। प्रसून लतांत के रचाव में भी गाँधी के लोकसेवी पत्रकारिता के अनछुए प्रसंग उजागर हुए हैं। 'मूर्तिकार रामू कुमार की कला' भी शोधपरक रचना है। अर्पण कुमार की क़लम की क़लमकारी से यह ज्ञात होता है कि गाँधीजी लियो टॉलस्टॉय से प्रभावित थे। अलबर्ट आइंस्टीन और गाँधी मानवता के कल्याण में समान रूप से प्रतिबद्ध थे। प्रयाग शुक्ल के लेख ने सत्य तथ्य उजागर किया है कि गाँधीजी ने शेक्सपियर के नाटक लंदन में देखे थे। 'सत्य हरिश्चंद्र' नाटक ने भी गाँधीजी के जीवन को प्रभावित किया था। फिल्म समीक्षक अजय ब्रह्मात्मज ने एक ख़ास बात उजागर की है कि गाँधीजी को भले ही फ़िल्म देखना अच्छा न लगता हो पर गाँधी पर फिल्मकारों की गहरी रुचि रही है। के.ए. अब्बास का पक्ष भी दुर्लभ जानकारी देता है कि गाँधीजी को फिल्म देखना पसंद नहीं था। सभी कविताएँ दुर्लभ एवं बेजोड़ हैं। बापू की 150वीं जयंती पर महत्वपूर्ण सामग्रियों के प्रकाशन हेतु ढेर सारी बधाई!

-वेद प्रकाश पाण्डेय
वाराणसी

हिंद स्वराज

'आजकल' के अक्तूबर 2019 अंक में वर्षा दास का आलेख 'मौजूदा सदी में गाँधी' ने प्रभावित किया। वर्तमान पीढ़ी में भी महात्मा गाँधी सबसे लोकप्रिय नेता हैं। अब समय आ गया है कि युवा पीढ़ी भी महात्मा गाँधी के बारे में गहराई से जाने। युवा पीढ़ी को यह भी जानना चाहिए कि गाँधीजी ने पुस्तक 'हिंद स्वराज' किस तरह गुजराती भाषा में लिखी। महात्मा गाँधी 1909 में जब लंदन से अफ्रीका समुद्र के रास्ते से लौट रहे थे तब जहाज़ में उन्होंने 'हिंद स्वराज' नाम की एक पुस्तक गुजराती में लिखी थी। इस पुस्तक को अब 110 वर्ष हो चुके हैं। वह तब जितनी आवश्यक थी उतनी आज भी है।

-अशोक कुमार ठाकुर
दरभंगा

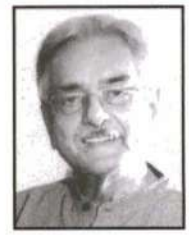
पत्रों की संख्या बढ़ाएँ

पत्रिका का अक्तूबर 2019 अंक हस्तगत हुआ। महात्मा गाँधी की 150वीं जयंती पर उनके जीवन संबंधी आलेख अच्छे लगे तथा नामचीन कवियों की गाँधी दर्शन संबंधी कविताएँ भी उनके जीवन की खूबियों को प्रस्तुत करती हैं। 'पत्र' संबंधी स्तंभ में आप द्वारा बरती गई कंजूसी की शिकायत का मैं भी पक्षधर हूँ क्योंकि आपकी यह पत्रिका बहुत पुरानी और राष्ट्रीय स्तर की है, जिसमें अनेकों स्तरीय पाठक हैं, जो अपने अनुभव, विचार 'पत्र' स्तंभ के माध्यम से पाठकों तक पहुँचा सकते हैं, जिसमें आपके द्वारा रखा गया मात्र एक पृष्ठ नि:संदेह बहुत ही कम है। उसके लिए कम-से-कम दो पृष्ठों की सख़्त ज़रूरत है।

-रामनरेश सिंह 'पयोद'
गया

गिरधर राठी का लेखन

प्रयाग शुक्ल



जन्म : 28 मई 1940, कलकत्ता। कवि, कथाकार, कला समीक्षक, अनुवादक, निबंधकार। कला, रंगमंच, फिल्मों आदि पर लेखन। विभिन्न विधाओं में 50 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। कई प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं के संपादकीय विभाग में रहे। साहित्य अकादमी के अनुवाद पुरस्कार सहित कई पुरस्कारों से सम्मानित।

कविता हो, आलोचना हो, निबंध या कोई वृत्तांत हो, पहले तो गिरधर राठी एक समूचा संदर्भ सामने रखते हैं, फिर उसी में पिरोते चले जाते हैं, अपना वक्तव्य या कथन! उनके लेखक का यह गुण इतना विशिष्ट है कि हम उसके प्रति सहज ही एक लगाव और खिंचाव महसूस करते हैं। उनकी छोटी से छोटी कविता तक में हम यह गुण पाते हैं । कोई भी संदर्भ-कथा, किसी बात की कोई पृष्ठभूमि, 'मंच पार्श्व' की कोई गतिविधि उनकी संवेदित आँख और मानवीय न्याय के लिए छटपटाते अंतरमन से अदेखी नहीं रहती–

इसीलिए उनकी रचना और आलोचना, हमेशा मर्म को छूती है। तर्क-बहस-जिरह के लिए उकसाती है। नए अर्थों और ताज़ातरीन विचारों के लिए। वह सहसा आपको कुछ और भी, ज्ञात-अज्ञात से जोड़ देती है। और यही तो काम्य है, किसी भी पाठक का। वह कई बार बातें अपने से ही करते हुए लग सकते हैं, पर, सच्चे साथी हैं पाठकों के!



वैसे ही सच्चे साथी, एक मित्र और व्यक्ति के रूप में भी। आपकी बातें सुनने का, विस्तार से भी सुनने का धीरज उनमें रहता है पर उतनी ही कुशाग्रता से, वह किसी कुतर्क को, किसी अर्थातीत को, हँसी में न उड़ाकर, आपको तर्क सहित वापस करने का 'धीरज' भी दिखाते हैं। ज़ाहिर है कि इससे बातचीत में एक गर्मी पैदा होती है। पर, संवाद का एक सिलसिला बनता है। चीज़ें साफ़ भी होती हैं।

ऐसा धीरज– संवाद में उसी का हो सकता है, जो अध्ययन प्रिय हो, सुनी-सुनायी को बहुत तरजीह न देता हो। अपने को यथासंभव जानकारियों से लैस रखने की चेष्टा करता हो। जानने को और अधिक जानने को, उत्सुक हो। संवेदना और करुणा को, लेखन और संवाद का मुख्य घटक मानता हो।

उनके लेखन में निहित 'करुणा' तत्व ने भी मुझे हमेशा आकृष्ट किया है, जो यों भी हमारी विचार-परंपरा का, सर्जनात्मकता का एक ज़रूरी हिस्सा रहा है। यह करुणा तत्व उनके यहाँ उसी तरह है, जैसे माटी के नीचे या बहुत नीचे जल रहता है।

उनकी एक छोटी-सी कविता है 'मूक हाहाकार'

रेत के ढिब्बों पर
सुबह-सुबह
गुबरैली झींगुरों मकोड़ों की
बेकल सरगोशियाँ
बिंदिया बेलें बूटे

जब यह कविता पढ़ी थी पहली बार तो वह एक हिला देने वाला अनुभव लगी थी। वे तमाम दृश्य उभर आए थे किसी नदी-पोखर के किनारे के, जहाँ यह 'हाहाकार' सजीव उपस्थित रहता है और जिसे हम एक सामान्य दृश्य मानकर साधारणत: आगे बढ़ जाते हैं।

अभी फिर पढ़ी तो न जाने कैसे एक-दूसरे सिरे से, नार्वेजियाई कलाकार एडवर्ड मुंक की वह चर्चित कृति 'क्राई' तैरती हुई चली आयी, जिसमें भी एक तरह का हाहाकार है : मनुष्य से प्रकृति के या प्रकृति से मनुष्य के विलग हो जाने का।

इसी प्रसंग में यह याद करना अच्छा लग रहा है कि राठीजी उन लेखक-कवियों में से हैं, जिन्हें साहित्य, राजनीति, संस्कृति के विविध प्रश्नों के साथ, चित्रकला, सिनेमा, नाटक, संगीत आदि विधाओं के तत्व और प्रश्न भी बहुत खींचते रहे हैं अपनी ओर। उन्हें अपनी कविता, आलोचना, समीक्षा आदि में, खाद-पानी, विविध अनुशासनों से भी मिलता रहा है। उन्होंने स्वयं विविध अनुशासनों पर लिखा भी है और इस दृष्टि से मुझे अमृता शेरगिल पर उनका लेख, अपने मूल्याँकन में, अपनी परख में, अभूतपूर्व ही तो लगता है जिसका पहला पैरा ही, आपको बाँध लेता है, जो इस प्रकार है–

'चटख़ लेकिन शोख़ नहीं–अमृता शेरगिल के रंग। गहरे लाल, सिंदूरी, नारंगी, पीले और हरे रंगों जैसे रंग, जो अन्यथा एक उद्दाम जिजीविषा, हर्षोल्लास और मंगल के सूचक होते, यहाँ गहरे अवसाद, निरीहिता, उदासीनता और रहस्यमय अनिष्ट की अवश स्वीकृति का अपरिभाषेय अहसास कराते हैं। रंग, आकार और आकृतियों की एक

***संपर्क** : एच-416, पार्श्वनाथ प्रेस्टिज, सेक्टर-93ए, नोएडा-201304 मो. 9810973590*

ऐसी संश्लिष्ट दुनिया, जो अपने भीतर छिपी किसी और दुनिया की तलाश के लिए आमंत्रित करती है और उदास कर जाती है। दर्शक के संवेदन-तंतुओं को नम कर देने वाला यह प्रभाव अलग-अलग प्रत्येक चित्र का नहीं है, क्योंकि उनमें से बहुत सारे चित्र अपनी प्रसन्न अठखेलियों के लिए ही पसंद किए जा सकते हैं। लेकिन अमृता शेरगिल के कुछ उपलब्ध चित्रों को देखने के बाद दर्शक अन्यमनस्क हो जाता है और इन्हें देख चुकने पर यदि कोई हर चेहरे को कुछ अधिक ग़ौर से देखने लगे तो आश्चर्य नहीं।"

इतना कहकर वह पाठक को मानो अमृता शेरगिल के चित्रों की नब्ज़ थमा देते हैं, कि मैंने इन चित्रों की नब्ज़ से, उनकी तबियत का जो हाल जाना है, आपको बताया है, अब आप भी परख लीजिए या 'परख' पहले भी कर चुके हों तो मेरी परख से अपनी परख का मिलान कर लीजिए।

आगे उन्होंने अमृता शेरगिल के चित्रों और स्वयं अमृता शेरगिल के जीवन के बहुतेरे दृश्य-संदर्भ दे दिए हैं, उनमें फिर अपनी प्रतिक्रियाओं को नत्थी करते हुए।

उनके सोच-विचार का ढंग ही ऐसा है कि उनका लेखन स्वत:स्फूर्त तरीके से एक 'वज़न' हासिल कर लेता है। ठोस लगता है, ठस नहीं। उनकी कल्पना और अनुमानों के पंख भी कुछ ठोस लेकर ही उड़ते हैं और हवाई नहीं लगते। यह भी कि प्रसंगों के अनुसार, विषयों के अनुसार, उनके पास एक ऐसी भाषा भी है, जो सोचे हुए को इस तरह वहन करती है कि वह संप्रेषित हो। बिना किसी तामझाम के संप्रेषित हो।

आइज़क बशेविस जैसे कथाकार के न रहने पर सिंगर माने 'गायक' शीर्षक से जो टिप्पणी राठीजी ने लिखी है, ज़रा उसके पहले पैरा पर भी नज़र डालें–

"अपनी मौत के दूसरे दिन (25 जुलाई, 1991) सिंगर अगर दूरदर्शन पर यह समाचार सुनते कि विश्वप्रसिद्ध 'गायक' और कथाकार जिनका पूरा नाम आइज़क बशेविस था, नहीं रहे.... तो क्या करते? शायद हँस पड़ते या शरारती, चुटीले और अर्थगंभीर लहजे में फिर कोई एक नायाब कथा लिख जाते। जैसा कि उनके कई पात्र बीच बहस में कहते हैं, "यह कहाँ लिखा है?" यानी किस धर्मग्रंथ में यह लिखा है कि ऐसा है, उसी तरह शायद वे यों शुरू करते, "यह कहाँ लिखा है कि मैं कथाकार हूँ मगर गायक नहीं? अलबत्ता यह बात मुझे दूरदर्शन के संवाददाता ने ही बतायी कि एक विश्वप्रसिद्ध 'गायक' जो कथाकार भी था ....।"

तो, देखिए एक प्रसंग, एक संदर्भ जो 'आयरनी' और 'विनोद' से भरा हुआ है, गिरधर राठी ने उससे कितनी चीज़ें निकाल ली हैं, संक्षेप में कितनी टिप्पणियाँ, जो दूरदर्शन की दशा-दुर्दशा पर भी हैं, सिंगर की शैली और विशिष्टता पर भी हैं। जी हाँ, अगर उनके समीक्षा लेखों में, एक 'गुरु गंभीरता है' तो चुहल, चुटीलापन और एक खिलंदड़ापन भी कम नहीं है, पर ये सब हैं अंतत: किसी अर्थ, किसी सार, किसी कलात्मक, किसी मानवीय-अनुभव तक पहुँचने के लिए ही।

राठीजी की शैलीगत रेंज बड़ी है। कहने को तो उनके पास बहुत कुछ है ही।

वह तह तक जाने वाले व्यक्ति हैं। तहों को खंगालने वाले हैं। एक या दो तहों को ही देखने से उन्हें संतुष्टि नहीं मिलती। तहों को, परतों को खोलकर ही तो वह यह ठीक-ठीक दिखा सके हैं कि रघुवीर सहाय जैसे कवि-लेखक पर लोहिया-जयप्रकाश आदि के चिंतन के असर की जो बात कही जाती है, वह कितनी अधूरी है, या जिस सिरे से कही जाती है वह उस सिरे से ग़लत है क्योंकि चिंतन के वे बीज स्वयं उनकी रचनाओं में, सोच में पहले से मौजूद थे। हम जानते हैं कि हिन्दी आलोचना में बहुलांश ऐसा है जो पहले से तय कर लेता है कि क्या कहा जाना है फ़ैसले के वक़्त। मुक़दमे की छानबीन में उसकी दिलचस्पी बहुत कम होती है और पैरवी सुनने का, तहक़ीक़ात करने का धीरज भी बहुत कम। रघुवीरजी पर उनका लेख इतना प्रासंगिक है, इतना मर्मभरा कि रघुवीरजी के लेखन की ओर ताज़ा हवा के साथ कई खिड़कियाँ खुल जाती हैं।

राठीजी का यह आग्रह बिलकुल समझ में आने वाला है कि बातचीत के सिरे ठीक से पकड़े जाएँ और किसी बात को, प्रसंग को उसके ठीक वज़न में रखा जाए : उनकी आलोचना/समीक्षा ठीक यही काम करती भी है। इसीलिए उनकी प्रशंसा-किसी चीज़ के लिए की गई प्रशंसा–विश्वसनीय लगती है, तो किसी बात पर की गई उनकी आलोचना भी उतनी ही विश्वसनीय।

कम-से-कम इतनी विश्वसनीयता तो उन्होंने हर हाल में अर्जित की है कि उनकी परख को 'परखा' जाए। उस पर ध्यान दिया जाए, उनके तर्कों को सुना जाए और इतना ही तो वह चाहते हैं कि उनके विमर्श को आगे बढ़ाया जाए, सहमत-असहमत हुआ जाए, संवाद चलाया जाए। 'बातचीत मित्रों से' नाम की उनकी जो किताब है उसमें उन्होंने यही इच्छा कई तरह से कई बार प्रकट भी की है।

राठीजी की जिन पुस्तकों को लेकर यह आयोजन है और अन्यत्र भी उनका जो संकलित-असंकलित लेखन है, उन सबको मिलाकर मैं यही कह सकता हूँ-कहना चाहता हूँ-कि उसमें जो 'थिरता' और गतिशीलता है, मुझे अच्छी लगती है। थिरता और गतिशीलता एक साथ! यह बात विरोधाभासी लग सकती है, पर है नहीं। जिस प्रसंग पर वह कोई टिप्पणी कर रहे होते हैं, वह 'थिर' होकर ही कही गई लगती है पर फिर वही बात अगला सिरा पकड़ने के लिए गतिशील हो उठती है। उनके इस गुण को प्रकाश मनु ने उनसे की गई लंबी बातचीत में अपने ढंग से लक्ष्य भी किया है–

"सुबह दस बजे से लेकर शाम सात बजे तक चली इस अविरल बातचीत में बहुत कम व्यवधान पड़ा, इसलिए कि राठीजी घर में प्राय: अकेले ही थे और पूरी तरह से बातचीत के मूड में थे। मज़े की बात यह है कि नौ घंटे तक अविराम चली इस बातचीत में (यहाँ तक कि दोपहर के खाने के समय डाइनिंग टेबल पर भी इसने साथ नहीं छोड़ा) राठीजी भावना और विचारोत्तेजना में बहुत बार बहे। छिटपुट बहसें भी हुईं पर किसी भी सवाल पर वे परेशान या नाराज़ कतई नहीं हुए। और इन क्षणों में तो इस क़दर तल्लीनता से और अनौपचारिक अंदाज़ में वे सवालों के जवाब दे रहे थे कि हमें लगा, वे एक ऐसे इंसान हैं जो देश और समाज की चिंताओं में डूबा हो, तो बीच के सारे फ़ासले खुद-ब-खुद हवा हो जाते हैं।

जिसे मैंने 'थिरता' कहा है वह यही 'तल्लीनता' है जो वह एक गति भी बनाए रखती है।

पिछले पाँच दशकों के अपने कर्मशील जीवन में राठीजी ने कई भूमिकाएँ निभायी हैं। राजनीति के गलियारों से परिचित हुए हैं। इमरजेंसी में मीसाबंदी के रूप में जेल में रहे हैं। संपादन के बहुतेरे काम किए हैं। एमनेस्टी इंटरनेशनल और सीएसडीएस जैसी संस्था से जुड़े हैं। देश-विदेश की बहुतेरी यात्राएँ की हैं। अनुवाद की एक बड़ी कार्यशाला कंडक्ट की है जिससे साहित्य अकादेमी से प्रकाशित 'सरवाइवल' नाम की पुस्तक सामने आई है। पूर्वोत्तर के कवियों पर बनी फ़िल्मों में अपना योगदान दिया है। अनुवाद का ढेरों काम किया है। इन सभी भूमिकाओं में अपने को प्रभावित भी किया है- 'निराकांक्षी' रहकर, जैसा कि अशोक वाजपेयी ने संकेत किया है।

हाँ, वे निराकांक्षी हैं। स्वाभिमानी हैं। साहसी हैं। स्वतंत्रचेता हैं।

पृष्ठ 11 पर जारी..

अभी कई काम करने हैं : गिरधर राठी

लंबे अरसे बाद कवि, लेखक, आलोचक, अनुवादक, पत्रकार गिरधर राठी की नौ किताबें एक साथ आई हैं। ऐसा संयोग किसी लेखक के लिए बिरला ही होता है। उनसे ***हरिमोहन मिश्र*** *ने साहित्य, राजनीति के तमाम मसलों पर बातचीत की। प्रस्तुत है बातचीत के कुछ अंश–*

प्रश्न : आपकी लंबे समय बाद लगभग एक साथ नौ किताबों का प्रकाशन कोई संयोग है या इनकी योजना पहले से चल रही थी?

उत्तर : एक मायने में संयोग भी कह सकते हैं और कुछ योजनाएँ भी चल रही थीं। दरअसल मैं पत्रकारिता में कोर्स के लिए जब हंगरी गया था तो हंगरी के महान साहित्यकार, नाटककार नेमेथ लास्लो के एक नाटक 'गाँधी की मृत्यु' से मैं बहुत प्रभावित हुआ। मैं उसका हिन्दी में अनुवाद करना चाहता था। उसके अंग्रेज़ी अनुवाद की एक प्रति मैंने हासिल की थी। उसका लंबे समय से प्रकाशन नहीं हो पाया था। महात्मा गाँधी की 150वीं जयंती के अवसर पर उसका प्रकाशन अच्छा रहता, यही मैं सोच रहा था। मेरे एक साहित्यकार मित्र ने सुझाव दिया कि रज़ा फ़ाउंडेशन की गाँधी पर प्रकाशन की योजना है तो अशोक वाजपेयी से बात की जा सकती है। मैंने अशोकजी से बात की। उन्होंने अनुवाद मंगवाया, जो राजकमल से छपा। उनसे बातचीत के क्रम में मेरी अपनी कविताओं और लेखों का भी ज़िक्र हुआ। इस तरह बात आगे बढ़ गई और मशक्कत के साथ पाँच किताबें संभावना प्रकाशन, हापुड़ से आ गईं। फिर, बीकानेर के मित्रों ने दो किताबें भी छपवा दीं। इसी दौरान नियोगी बुक्स से अनुवाद के सिलसिले में बातचीत हुई तो हिन्दी कहानियों के अंग्रेज़ी अनुवाद की किताबें वहाँ से आ गईं। इस तरह यह ऐसा संयोग बना कि मैं भी कुछ हैरान रह गया।



जर्मन अनुवादक रायनर लोत्स और पोलिश हिन्दी विदुषी दानुता स्ताशिक के साथ

इसके बाद आपके दूसरे प्रकाशनों की कोई विशेष योजना है?

नहीं, योजना तो नहीं है लेकिन इच्छा ज़रूर है। बहुत कुछ है लिखा हुआ, धीरे-धीरे लिखते-लिखते भी काफ़ी कुछ हो गया है। जैसे कि हिन्दी कविताओं के अंग्रेज़ी अनुवाद हैं। बहुत सारे कवियों के हैं। कुंवर नारायण, प्रयाग शुक्ल, मंगलेश डबराल, विष्णु नागर, केदारनाथ सिंह वग़ैरह। इसी तरह बहुत सारे विदेशी कवियों के हिन्दी अनुवाद हैं और भारतीय भाषाओं के कई कवियों के हिन्दी अनुवाद हैं। इनकी अलग-अलग जिल्दें निकलें तो दस-बारह किताबें बन जाएँगी। एक-एक, दो-दो जिल्द भी निकले तो ज़ाहिर है कि चार-पाँच किताबें तो बनती ही हैं। फिर, पत्रकारिता का लेखन भी है जिसमें कुछ छाँटकर छापा जा सकता है। हिन्दी और अंग्रेज़ी दोनों में है। अंग्रेज़ी में समालोचना समीक्षा, लेख वग़ैरह लिखता रहा हूँ, उसका एक संग्रह संभवतः 2020 में नियोगी बुक्स से आ जाएगा।

हाँ, यह तो मैं भूल ही रहा हूँ। इस समय जिस काम में मैं लगा हूँ, वह है कृष्णा सोबती की जीवनी। मैं कृष्णाजी से अंतिम दो वर्षों में कई बार मिला हूँ। इंटरव्यू लिए हैं, कुछ रिकॉर्ड किया है। कुछ उन्होंने अपनी तरफ़ से सवालों के जवाब के रूप में टाइप करवा कर दिया है। बहुत सारे काग़ज़ात भी देखे हैं मैंने और कुछ लोगों से बातचीत कर रहा हूँ। अगले तीन-चार महीनों में योजना यह है कि सब ठीक रहा यानी तबीयत ने ज़्यादा परेशान न किया तो कृष्णाजी के बारे में एक किताब तैयार कर पाऊँगा। ज़रूरी है कि इसे करूँ मैं। इसे तो करना ही है मुझे। बाकी चीज़ें बाद में होती रहेंगी।

उम्मीद है कृष्णा सोबती वाली किताब जल्दी ही आ जाएगी। इसके अलावा किसी विशेष कवि या लेखक पर काम करने का आपका इरादा है क्या?

एक काम करना ही है कि अशोक सेकसरिया के बहुत सारे पत्र हैं, कुछ और मित्रों जैसे सच्चिदानंद सिन्हा के बहुत सारे पत्र हैं लेकिन ख़ास तौर से अशोकजी के पत्रों को संकलित करना चाहता हूँ। उनके संकलन में कोशिश करना चाहता हूँ कि ज़रूरी, पूरक जानकारियाँ दे पाऊँ, इस लिहाज़ से थोड़ा यह काम बढ़ सकता है। कृष्णाजी की पुस्तक करने के बाद हो सकता है कि मैं वही काम करूँ।

संपर्क : गिरधर राठी : *21जी, पार्श्वनाथ इस्टेट, सेक्टर, ओमेगा-1, ग्रेटर नोएडा-201308 (उ.प्र.) मो. 09313816670*

हरिमोहन मिश्र : *513, पत्रकार परिषद्, सेक्टर-5, वसुंधरा, ग़ाज़ियाबाद-201012 मो. 9711155155*

आप लोहियावादियों की उस धारा से जुड़े रहे हैं जिसमें किशन पटनायक, सच्चिदानंद सिन्हा, अशोक सेकसरिया जैसे चिंतक, विचारक रहे हैं। क्या आपको कभी लोहिया की राजनीति में या बाद में कुछ फेरबदल या कुछ कमी-बेशी का अहसास हुआ?

लोहिया के प्रति मेरा आकर्षण सागर विश्वविद्यालय में शुरू हुआ और इलाहाबाद में बढ़ा। सागर में बीए करने के बाद एमए करने के लिए इलाहाबाद गया तो वहाँ अनेक समाजवादी मित्रों के संपर्क में आया लेकिन अब पलट कर देखता हूँ तो समझ में आता है कि मैं उस दौर में सभी तरह की विचारधाराओं को समझने की कोशिश कर रहा था। उन दिनों पढ़ा भी बहुत और बहसें भी बहुत हुईं। साम्यवाद, समाजवाद और दूसरी लोकतांत्रिक प्रणालियों के बारे में। उन दिनों लोहिया के प्रति आकर्षण था। जब लोहिया का निधन हुआ तो मैं बहुत विचलित-सा रहा। दिनभर रिक्शा में ख़ाली घूमता रहा। शाम को अपने प्रोफ़ेसर और कवि-गुरु विजयदेव नारायण साही से मिला तो उन्होंने कहा कि एक प्रेस विज्ञप्ति अंग्रेज़ी में बनाओ। उस समय एक दिलचस्प वाक़या हुआ कि लिखना था 'डिमाइस' और मैं लिख गया 'सरमाइस।' इस पर साहीजी ने कहा कि तुम्हारी भी भूल-भुलैया चल रही है। उसके बाद वहाँ साम्यवादियों और समाजवादियों दोनों से गहरा संबंध बनता गया लेकिन इस बीच एक बात यह हुई कि साहीजी ने 1967 में मिर्ज़ापुर-भदोही से चुनाव लड़ा तो मैंने ज़ोरशोर से हिस्सा लिया। मैंने अपने मित्र अरुण द्विवेदी को सागर से और विनय दुबे को बनारस से बुलाया। हम तीनों नरेश सहगल, जो हमारे साथ पढ़ते थे, के एक रिश्तेदार के घर ठहरे और गाँव-गाँव घूमे। शायद भदोही में मैं साहीजी का चुनाव प्रतिनिधि था। वहाँ मैंने किसी मतदाता की पहचान पर सवाल उठा दिया, वह सही निकला। शाम को मतदान ख़त्म होने के बाद मैंने देखा कि करीब सौ-डेढ़ सौ लोग जमा थे और शांत मगर खूंखार नज़रों से देख रहे थे। मुझे शंका हुई तो मैंने चुनाव अधिकारी से कहा तो उन्होंने मुझे मतपेटियाँ ले जाने वाली गाड़ी में बैठा कर मिर्ज़ापुर भेज दिया। इस तरह आप कह सकते हैं कि जनेश्वर मिश्र हैं, जर्नादन द्विवेदी हैं, वे सब लोग वहाँ सक्रिय थे और भी बहुत सारे समाजवादी युवजन सभा के लोग थे। ये सब लोग साहीजी, लक्ष्मीकांत वर्मा, डॉ. रघुवंश समाजवाद की ओर ही आकृष्ट थे। इस लिहाज़ से काफ़ी कुछ सीखने, समझने को मिल रहा था।



तत्कालीन राष्ट्रपति के.आर. नारायणन, अय्यप्पा पणिक्कर और पद्मा सचदेव के साथ

उस बीच पढ़ते हुए ही मैं संगम प्रेस एजेंसी में भी काम करने लगा था जिसे भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (सीपीआई) के ज़ियाउल हक़ साहब चलाते थे। बहुत ही सुलझे हुए और गहरे व्यक्ति थे। उनके कार्यालय में मार्क्सवाद की ढेरों किताबें थीं, वह भी मैं पढ़ता रहा। मार्क्स, लेनिन, माओ के अलावा मार्क्सवाद विरोध की मिलोवन जिलास की 'द न्यू क्लास' भी वहीं पढ़ने को मिल गई। ज़िया साहब ने एक दिन कहा कि तुम पत्रकारिता सीखना चाहते हो। मैंने हामी भरी तो उन्होंने हंगरी की एक फ़ेलोशिप का ज़िक्र किया। मैं हंगरी चला गया। उस 1967-68 के दौर में छात्र और युवा शक्ति का प्रचंड प्रदर्शन देखा गया था। सारी दुनिया, पूरे यूरोप में छात्र आंदोलन चल रहे थे। उन्हीं दिनों चेकोस्लाविया में काफ़ी हलचल मची हुई थी, हंगरी में भी काफ़ी हलचल मची हुई थी। वह ज़माना था कि जब लोग विचारधाराओं का एक-दूसरे में समा जाना मान चुके थे। वहाँ मैंने यूरोप के इतिहास को भी समझने की कोशिश की। मेरी समझ में यह आया था कि साम्यवादियों और समाजवादियों को इकट्ठा हो जाना चाहिए।

मैं वापस लौटा तो कहीं और काम करने की कोशिश भी नहीं की, सीधे 'जनयुग' में काम किया, जो कम्युनिस्ट पार्टी का साप्ताहिक मुखपत्र था। वहाँ रहते हुए मैंने कोशिश की, जो बचकानापन ही लगता है, कि समाजवादियों और कम्युनिस्टों को इकट्ठा होना चाहिए। उन्हीं दिनों चेकोस्लाविया पर रूस का हमला हुआ था। उससे सीपीआई ऊपर से नीचे तक दो हिस्सों में बँट गई थी। एक हिस्सा वह था जो मानता था कि रूस, चीन के निर्देश पर चलने के बदले भारत की भूमि के अनुसार चलने की परिकल्पना करनी चाहिए। उन दिनों बड़े अच्छे दस्तावेज़ तैयार किए गए थे। एच.के. व्यास, मोहित सेन वग़ैरह उसमें शामिल थे। भूपेश गुप्ता भी काफ़ी हद तक उसी में थे। मैंने वह बहस बहुत ग़ौर से देखी और सुनी। सीपीआई के सारे सर्वोच्च नेताओं से मिलने, उनसे बहस करने का मौक़ा मुझे उस अवस्था में ही मिल गया था। मेरी यह धारणा मज़बूत होने लगी थी कि अपने देश की, लोकतंत्र की चिंता करने वाले सभी वामपंथियों को एक साथ आ जाना चाहिए क्योंकि चेकोस्लविया में रूस के आक्रमण का विरोध करने का मतलब ही अपने देश और लोकतंत्र को महत्व देना था। बहरहाल, वह एक भ्रम ही साबित हुआ। बाद में सोल्जेनित्सिन के बारे में सीपीआई के तब के जनरल सेक्रेटरी राजेश्वर राव ने कुछ भद्दी बातें लिखीं तो मैंने उन्हें चिट्ठी लिखी कि इस पर तो खुली बहस चलाइए क्योंकि सोल्जेनित्सिन तो रूसी क्रांति के वर्ष में पैदा हुए और द्वितीय विश्वयुद्ध में जान की बाज़ी लगाकर लड़ाई लड़ी। इसलिए उसके प्रति इस तरह की बात ठीक नहीं है। वे बहस के लिए तैयार नहीं हुए और तब मैंने 'जनयुग' छोड़ दिया। फ़्रीलांसिंग करने लगा।

जब 'प्रतिपक्ष' निकला तो भारत भूषण अग्रवालजी ने मुझे बताया कि कमलेशजी किसी को खोज रहे हैं। मैं कमलेशजी से मिला। 'प्रतिपक्ष' के प्रधान संपादक जॉर्ज फर्नांडिस और कमलेशजी संपादक थे। मैं सहायक संपादक के नाते जुड़ा लेकिन इस पूरे दौर में मैं समाजवादी पार्टी का सदस्य कभी नहीं रहा। समाजवादी युवजन सभा के लिए प्रचार बहुत किया। उसके बावजूद साथ तो रहा। आपातकाल में जब कमलेशजी अलग हो चुके थे और मैं संपादक हो गया था तो मीसा में जेल-वेल हुई।

जहाँ तक लोहियावाद की बात है तो शुरू के आकर्षण के बाद आलोचनात्मक दृष्टि तो बनती ही गई। मुझे लगा कि कुछ चीज़ें सही ढंग से नहीं आ रही हैं। जैसे, अंग्रेज़ी हटाओ आंदोलन के बदले अगर भारतीय भाषा आंदोलन चला होता तो शायद उसके साथ नकारात्मकता नहीं होती। शायद यह दूरदृष्टि भी शामिल होती कि अंग्रेज़ी के बग़ैर तो नए संसार में काम चलने वाला नहीं है। सिर्फ़ अंग्रेज़ी ही नहीं, बाक़ी भारतीय भाषाओं पर भी ज़ोर रहता। हालांकि उसकी मूल भावना वही थी लेकिन वह जिस रूप में प्रस्तुत हुआ, उसका नतीजा यह हुआ कि

छात्रों की एक बड़ी संख्या उस बुनियादी शिक्षा से वंचित रह गई, जो दूसरे राज्यों में अंग्रेज़ी या अंग्रेज़ी के माध्यम से मिल रही थी। इसी तरह मुझे यह लगा था कि नेहरू की आलोचना ज़रूरत से ज़्यादा है। सबसे बड़ी पहेली तो यही है कि गाँधीजी ने ख़ुद नेहरू को अपना उत्तराधिकारी वर्षों पहले नियत किया था, तो गाँधी की दृष्टि क्यों नेहरू पर पड़ी और पर क्यों नहीं पड़ी। शायद गाँधी यह देख रहे थे कि ज़माना कैसा होने वाला है और आगे जाकर शायद नेहरू जैसे व्यक्ति ही इसे संभाल पाएँगे। नेहरूजी की सबसे बड़ी देन यह है कि भारत लोकतांत्रिक देश बना रह सका, यह उनकी आलोचना में भुला दिया गया। हमारे साथ या बाद में आज़ाद होने वाले देशों में कहीं लोकतंत्र नहीं बचा है। तो, हमारे यहाँ यह नेहरू जैसे नेता की वजह से लोकतंत्र का बचा रहना संभव हुआ है। नेहरूजी के ज़माने में इतनी संस्थाएँ बनी हुई हैं कि आज लोकतंत्र टिका हुआ है। अगर ये संस्थाएँ मर जाएँगी या मार दी जाएँगी तो लोकतंत्र के बचने का तो कोई सवाल ही नहीं है। इस तरह मुझे लगा कि तब नेहरू की अति आलोचना भी एक विडंबना थी। फिर, 1967 के बाद तमाम कांग्रेस विरोधी आंदोलन चलाया गया, जिसमें समाजवादी, कम्युनिस्ट, जनसंघ और दूसरी पार्टियाँ इकट्ठा थीं। उसमें कहीं बुनियादी नैतिक मूल्यों, राजनैतिक मूल्यों को लेकर ढील थी। अवसरवादिता कहीं ज़्यादा थी, दूरदृष्टि कम थी क्योंकि कुल मिलाकर कांग्रेस ने जो मॉडल तैयार किया था, उससे हटकर कुछ तैयार किया गया तो अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, व्यक्तिगत स्वतंत्रता जैसी बातें नहीं रहेंगी। वह जो अर्थव्यवस्था का मिला-जुला मॉडल है, वह जो सभी लोकतांत्रिक शक्तियों को ताक़त देने का मॉडल है, उसमें सफलता उन्हें भी नहीं मिली, बहुत सारी विफलताएँ थीं लेकिन मूल मंतव्य तो बेहतर था। मुझे लगता है कि इन चीज़ों पर अधिक ग़ौर किया नहीं गया। सबसे बड़ा नुकसान तो यही हुआ कि लोहियाजी वह सब मंत्र देने के बाद जल्दी चले गए। आगे जो ख़तरे थे, ऐसा नहीं है कि लोहिया की नज़र उन पर नहीं गई थी। मसलन, पिछड़ों को साठ प्रतिशत हिस्सेदारी देने की बात जब उन्होंने की तो जाति तोड़ो के कार्यक्रम पर ज़ोर दिया, जो बाद में भुला दिया गया।

इलाहाबाद में आप उस दौर में थे जब परिमल और प्रगतिशील लेखक संघ की बहसें चला करती थीं, कुछ उस बारे में बताइए और यह भी बड़ा दिलचस्प है कि विजयदेव नारायण साही, मलयज जैसे साहित्यकार भुला दिए गए हैं, इसमें क्या आप मार्क्सवादी आलोचना की कोई भूमिका देखते हैं?

इलाहाबाद के दिन, सागर के दिनों की ही तरह, मेरे लिए हर तरह से बहुत शिक्षाप्रद रहे। न सिर्फ़ सोचने-समझने का मौक़ा मिला, बल्कि साहित्यिक गतिविधियों में गहराई से जुड़ गया। वे सीखने के दिन थे। सो, मैं प्रगतिशील लेखक संघ की बैठकों में भी जाता था, परिमल की बैठकों में भी जाता था। उसके अलावा विवेचना गोष्ठी बालकृष्ण राव, रामा राव चलाते थे। प्रमोद सिन्हा भी एक तरह की गोष्ठी चलाते थे। हमलोग भी कॉलेज में, हॉस्टल में इस तरह की गोष्ठियाँ करते रहते थे। व्यक्तिगत स्तर पर लगभग सभी लेखक एक-दूसरे से मिलते-जुलते थे। ऐसा बहुत कम लोगों के साथ था कि किसी से नहीं मिलते या ख़ास लोगों से ही मिलते-जुलते थे लेकिन दूसरी तरफ़ वैचारिक मतभेद तो ज़बरदस्त था। प्रगतिशील लेखक संघ के लोगों का मानना था कि परिमल के संचालक और सदस्य सेठाश्रयी समाजवाद के पक्षधर हैं। उधर, परिमल वालों का कहना होता था कि प्रलेस वाले सरकारी समाजवाद के पक्षधर हैं। यह बंटवारा रचनाओं को लेकर भी किसी हद तक था। बहुत ज़्यादा था, ऐसा मुझे नहीं लगता। वहाँ के माहौल की एक ख़ूबी यह थी कि जो नए, युवा, संभावनाशील लेखक उभरते थे, उन्हें सभी प्रोत्साहन देते थे, परिमल वाले, प्रलेस वाले, बाक़ी सभी से एक तरह का बराबरी का व्यवहार मिलता था। बड़े से बड़े लेखक की तरफ़ से भी। अपवादस्वरूप महादेवी और सुमित्रानंदन पंत को रख सकते हैं, जो आमतौर पर गोष्ठियों वग़ैरह में नहीं आते थे। हालाँकि पंतजी कुछ में आते थे। देखा है मैंने उन्हें।

इस तरह व्यावहारिक और व्यक्तिगत स्तर पर तो लेखकों में कोई अलगाव नहीं था लेकिन रचनाओं और रचनाओं के मूल्यांकन में था। प्रलेस की एक भूमिका है कि उसने समाज, देश की ओर बहुत सारे रचनाकारों का ध्यान खींचा और कुछ ज़्यादा बड़े दायित्व के प्रति उन्हें सचेत किया। वहीं प्रलेस या उससे टूटकर जो जनवादी लेखक संघ वग़ैरह बने, उनका सबसे बड़ा दोष यही था कि वे पार्टी संचालित थे। इसलिए पार्टी की जो नीतियाँ होती थीं, उसी के आधार पर साहित्य के आकलन का उनका रवैया था। पार्टी की नीतियाँ भी हमेशा बदलती रही थीं। इसलिए साहित्य या कला के प्रति जो खुली दृष्टि होनी चाहिए, वह इनमें कभी नहीं रही। बाद में मैं जब दिल्ली आया तो देखा कि विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं और मंचों पर भी विभाजन बहुत तीखा होता चला गया। गुट अलग-अलग होते चले गए और सख़्त होते चले गए अपने रवैए में। नतीजा यह हुआ कि नामवरजी जैसे लोगों के पास जब प्रलेस की कमान आई, नहीं भी कमान थी तब भी वे प्रभावशाली तो थे ही। उन्होंने अपनी तमाम प्रतिभा, ख़ूब पढ़े-लिखे होने और गहरी समझ के बावजूद विलगाव को गहरा किया। हाँ, ढेरों छोटी पत्र-पत्रिकाएँ निकलने लगीं जिन्होंने इस विलगाव को काफ़ी गहरा कर दिया। कोई नया लड़का भी इनके संघों से जुड़ता था तो बिना पढ़े ही अज्ञेय, निर्मल वर्मा की आलोचना करने लगता था। इस तरह साही, मलयज, अज्ञेय, निर्मल वर्मा और उनके साथ मनोहरश्याम जोशी, कृष्णा सोबती को भी शामिल कर सकते हैं, सभी पर तरह-तरह के आरोप मढ़े जाते थे। कृष्णा सोबती, अज्ञेय पर संभ्रांत होने के लिए हमले किए जाते थे। निर्मल वर्मा पर विदेशी साहित्य की नक़ल की बातें कही गईं। दिलचस्प क़िस्सा है कि लक्ष्मीकांत वर्मा के यहाँ टेलीफ़ोन लगा तो प्रलेस की तरफ़ से यह ख़बर फैलाई गई कि सीआईडी ने उन्हें टेलीफ़ोन दिया है।

इसी तरह 'जनयुग' में काम करते हुए जब मैं काफ़ी हाउस या दूसरी जगहों पर अशोक सेकसरिया, प्रयाग शुक्ल जैसे मित्रों से मिलता था तो वहाँ भी ऐसी ही खुसुरपुसुर चला करती थी। यानी असहिष्णुता बहुत ज़्यादा थी। मतभेद या व्यक्तिगत स्तर पर भी अलगाव बढ़ता गया। नतीजा यह ज़रूर हुआ है कि वामपंथ की इस विकृत सोच ने कई नई पीढ़ियों को साहित्य के एक बड़े हिस्से से वंचित कर दिया। उन्होंने उसे बिना पढ़े ही रामविलास शर्मा, नामवर सिंह या मुरलीमनोहर प्रसाद सिंह या जो भी प्रमुख लोग रहे उनके फ़तवों से बाक़ी साहित्य को जाँचते रहे। यह नुक़सान तो हुआ। रचनाशीलता का ह्रास इससे हुआ, एकरूपता जो आ रही है साहित्य में, जो पाठक को विरत करती है, उसकी वजह भी यही है।

'जनयुग' में रहे लेकिन कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य तो नहीं रहे।

शुरू में तो नहीं था पर सालभर बाद ज़ियाउल हक़ साहब ने एक दिन कहा कि लो, तुम्हारा कम्युनिस्ट पार्टी का कार्ड बन गया है। उसके बाद डेढ़ एक या दो साल तक और रहा वहाँ। कुल मिलाकर तीन-साढ़े तीन साल मैगज़िन निकाला लेकिन जब सोल्जेनित्सिन और पार्टी की रीति-नीति पर विवाद छिड़ गया तो मैंने इस्तीफ़ा दे दिया। तो समझिए कि डेढ़ एक साल तक मैं कम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य रहा।

आपने नेहरू और समाजवादियों का ज़िक्र किया। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के नेता तो एक तरह से नेहरू ही थे लेकिन ख़ासकर लोहिया को बाद में उनसे विरक्ति हो गई। आज हम पाते हैं कि नेहरू-विरोध का लाभ किन्हीं और शक्तियों को हुआ और शायद समाजवादियों को उससे घाटा ही हुआ...

हाँ, वह राजनीति की एक बड़ी दुर्घटना ही है कि नेहरू, जयप्रकाश, नरेंद्र देव अलग-अलग धाराओं में चले गए। मुझे तो सबसे बड़ा कारण वैयक्तिक ही लगता है क्योंकि मूलत: इन सभी धाराओं के नेता जैसा समाज चाहते थे, उसका स्वरूप लगभग एक जैसा था- वह समाज जो लोकतांत्रिक, न्यायपूर्ण, अधिक से अधिक समता वाला हो। यह राजनैतिक दुर्घटना है कि समाजवाद की धारा बँट गई। आज तो यह भी संकोच होता है कि समाजवाद का नाम लें या न लें, आख़िर वह धारा है कहाँ।

राजनैतिक रुचि की बात हमने की लेकिन आप यह बताएँ कि आपमें साहित्यिक रुझान कैसे पैदा हुआ?

मेरा बचपन में खेल-कूद में ज़्यादा रुझान नहीं था तो किताबें पढ़ना और बातचीत करना ही होता था। दूसरे वातावरण भी कुछ ऐसा ही था, जो शुद्ध साहित्यिक तो नहीं था, मगर घर-बाहर चारों ओर 'रामचरित मानस' की ही गूँज थी। शायद अनजाने ही उसकी चौपाइयों, दोहों की लय ने, उसकी भाषा ने कुछ असर डाला। फिर कुछ लिखना शुरू किया तो थोड़ी-थोड़ी सराहना भी मिली तो फिर उस तरफ़ बढ़ गए। फिर इटारसी में माहौल कुछ ऐसा मिला जहाँ बच्चों को तरह-तरह से प्रोत्साहित किया जाता था। विपिन जोशी जैसे कवि थे जो बच्चों को प्रोत्साहित किया करते थे। वहाँ गाँधी वाचनालय में नया साहित्य भी ढेरों मिलने लगा। इटारसी ऐसा जंक्शन भी है जहाँ से बहुत से बड़े लेखक गुज़रा करते थे। उन्हें बुलाना, गोष्ठियाँ करने का सिलसिला चलता रहता था। फिर सागर में कुछ दोस्तों के साथ एक कविता की पत्रिका 'विन्यास' नाम से निकाली थी। उन दिनों कविता की वह पहली या दूसरी पत्रिका ही थी। हालाँकि वहीं आचार्य नंददुलारे वाजपेयी भी थे जो रचनात्मक लेखन के ख़िलाफ़ थे। उनका कहना था कि हम यहाँ कविता लिखना नहीं सिखाते। उनका ज़ोर आलोचनात्मक दृष्टि पर था लेकिन गंगाधर झा और प्रेमशंकरजी जैसे लोग थे जो रचना में रुचि लेते थे। फिर इलाहाबाद चले गए, जो साहित्य का गढ़ ही था। वहाँ गोष्ठियों के अलावा काफ़ी हाउस में बड़े लेखकों के साथ हम जैसे लड़कों को बैठने और बराबरी से बहस करने का मौक़ा मिल जाता था। फिर परिमल जैसी तमाम संस्थाएं थीं। उस दौर में काफ़ी कविताएँ लिखी गईं। परिमल की एक गोष्ठी में मैंने कविताएँ पढ़ीं तो कई लोगों ने तारीफ़ की, साहीजी ने तो कह दिया कि लगता है जैसे मेरी कविताएँ पढ़ी गईं। वह चरम उपलब्धि थी। सिर्फ़ केशवचंद्र वर्मा ही थे जिन्होंने कहा कि फ़ॉर्म वग़ैरह तो ठीक है पर कहना क्या चाहते हो। उनकी बात मुझे ज़्यादा ग़ौर करने वाली लगी। श्रीराम वर्मा, दूधनाथ सिंह, वीरेन डंगवाल, बटरोही, बटोही जैसे लोगों की हमारी मंडली थी। तो, वह अद्‌भुत समय था। इस तरह सफ़र बढ़ता गया। ❑

गिरधर राठी का...

पृष्ठ 7 से आगे...

कठोर या द्रवित एक साथ या आगे-पीछे हो सकते हैं, पर सोच-विचार की, रचना की दुनिया में, किसी 'समझौते' के आकांक्षी नहीं हैं।

यही कारण है कि उनकी पुस्तकें, जो विविधवर्णी हैं और जिनमें खंगालने को अकूत सामग्री है, वे बहुतों को बहुत बार अपनी ओर लौटाएँगी।

पहले तो एक मित्र, फिर एक संबंधी और मित्र-मंडली के एक अभिन्न सदस्य के रूप में, हमेशा उन्हें खरा पाया है। सलाह-मशविरे के लिए भी उनके पास गया हूँ और कभी निराश नहीं हुआ हूँ।

कविता के एक पाठक के नाते, उनकी कविताओं से समय-समय पर बहुत कुछ पाया है और प्रसन्न हूँ कि उनकी कई कविताएँ-जैसे कि 'उनींदे की लोरी' या 'तिहाड़' अब हिन्दी साहित्य-जगत में और उसके बाहर भी बहुतों को कंठस्थ हैं और किसी मर्मभरे कथन के रूप में, किसी दोहे, चौपाई की तरह याद की जाती हैं।

व्यक्तिगत अनुभव से यह जानता हूँ कि 'पढ़ने' में उनकी रुचियाँ विविध और विस्तृत हैं। आप किसी भी अनुशासन, किसी भी विधा का उल्लेख कीजिए, उनके पास बताने को, (प्राय: लिखने को भी) कुछ न कुछ रहता है। जब भी जो काम हाथ में लिया, उसे ज़िम्मेदारीपूर्वक निभाया है। उनके लेखन में, उनके अनुवाद करने में भी ज़िम्मेदारी की यही भावना रहती है। उन्हें न जाने कितनी बार, किसी शब्द, किसी वाक्य या वाक्यों के समूह में, 'उलझे' और रमे हुए देखा-सुना है। 1990 में प्रकाशित पुस्तक : 'बर्टोल्ट ब्रेष्ट, हर शै बदलती है' (मूल जर्मन से अनुवाद : गिरधर राठी-रायनर लोत्स) की भूमिका में राठीजी ने लिखा था– भूमिका स्वरूप : "करते-करते इन अनुवादों में ही लगभग तीन वर्ष लग गए। शुरुआत जॉन विलेट, राल्फ़ मानहाइम और एरिख क्रीड के संकलन बर्टोल्ट ब्रेष्ट चोएम्स के पाठ से हुई थी। ब्रेष्ट की लगभग 500 कविताओं का यह संग्रह हर दृष्टि से सराहनीय है (इसे भारत में राधाकृष्ण प्रकाशन ने छापा है) पर अंग्रेज़ी से 60-70 कविताओं का अनुवाद करने के बाद एक दिन जब डॉ. लोठार लुत्से और रायनर लोत्स से बातचीत करते हुए यह विचार आया कि अनुवाद मूल जर्मन से ही किए जाएँ, तब, प्रक्रिया दिलचस्प, दुरूह और लंबी हो गई। दो-तीन कविताओं पर डॉ. लुत्से के साथ भी विचार-विमर्श हुआ और उसके बाद अपने दैनंदिन कार्यों से समय बचा कर जो अभियान चला उससे न केवल ब्रेष्ट के बारे में, बल्कि कविता, कथ्य और शिल्प के बारे में भी अनेक रहस्य खुले। पाठक देखेंगे कि ग़ौर से ये कविताएँ पढ़ने पर उनके आगे भी अनेक रहस्य खुल रहे हैं।"

राठीजी के विपुल कामकाज में यह जो श्रम-सौंदर्य और बुद्धि-वैभव दीखता है, वह उनकी लगन और निष्ठा के बारे में भी बहुत कुछ बताता है। यही सौंदर्य और ज़िम्मेदारी की भावना, यही बुद्धि वैभव, 'गाँधी की मृत्यु' जैसी अनूठी अनुवाद पुस्तक में भी हम पाते हैं। मूल हंगारी से ली गई कृतियों के साथ, जिनमें मारित कोवास उनकी सहयोगी और निर्देशिका रही हैं, भी यही कथा कहती हैं। भाषा (भाषाओं) के प्रति एक जवाबदेही, एक निरंतर अनुसंधानी क्रिया से उनका सारा कामकाज अपनी ही एक ख़ास चमक रखता है जिससे नई पीढ़ियाँ भी कुछ तो सीख ही सकती हैं।

इस लेख को मैं राठीजी की ही एक कविता के साथ समाप्त करने की इच्छा रखता हूँ। कविता है–

सच वह कम न था / नींद उखड़ी जिससे, / न ही यह कम है- / उखड़ी हुई नींद / जो अब सपना नहीं बुन सकती। / अँधेरे में / या रोशनी जलाकर / जो भी अहसास है / सच वह भी कम नहीं / पर नींद वह क्या नींद / जो बुन न सके सपने! / कैसी वह भाषा / जो कह न सके / देखो! *(उखड़ी हुई नींद)* ❑

सभ्यतालोचन की एक नई पहल

नंदकिशोर नंदन



जन्म : 28 फरवरी, 1945 । विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित। 18 पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न पुरस्कारों से सम्मानित। संप्रति : बीआरए बिहार विश्वविद्यालय, मुज़फ़्फ़रपुर में प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष पद पर रहे। लेखन एवं सामाजिक कार्यों में सक्रिय।

'कल, आज और कल' हमारे समय की विद्रूपताओं, विडंबनाओं और त्रासदियों से सीधा साक्षात्कार कराने वाले उन आलेखों और टिप्पणियों की महत्वपूर्ण पुस्तक है, जो हमें भी कठघरे में खड़ी करती है। इस पुस्तक को पढ़ते हुए बार-बार यह सवाल परेशान करता है कि हिन्दी में अनेक ख्यातिप्राप्त लेखक-विचारक हैं लेकिन वे इस निर्भयता, साहस और बेबाकी के साथ न तो किसी विषय पर अपने विचार व्यक्त करते हैं और न ही सवाल खड़े करते हैं। इस पुस्तक के लेखक गिरधर राठी हिन्दी के उन विरल लेखकों-कवियों में हैं, जिन्होंने मनुष्यता के पक्ष में पूरी दृढ़ता के साथ लिखने के साथ ही जीवन में एक सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में भी कार्य किया है। लोकतांत्रिक मूल्यों के सच्चे प्रहरी के रूप में साहित्य भी पाँचवां स्तंभ है, यह बार-बार प्रमाणित हुआ है जो राजकीय सम्मान पाने वाले लेखक-कवि भी हैं, जो सत्ता की ठकुर सुहाती करने में ही अपनी कृतार्थता महसूस करते हैं। हम जानते हैं कि प्रतिरोध करने वाले, स्वतंत्र, समतापरक, समरस और मानवीय समाज के लिए संघर्ष करने वाले लेखक-कवि ही याद रखे जाते हैं। आपात्काल का विरोध करते हुए 18 महीने जेल की सज़ा काटने वाले राठीजी ही यह लिख सकते हैं, "सांप्रदायिकता का ज़हर हमेशा ही राजनीति के सर्वोच्च स्तर से फूटकर बहता रहा है। आम जनता इस राजनीति के लिए घास-फूस है जिसे मज़े से बहाकर कहीं भी ले जाया जा सकता है।"

गिरधर राठी की इस पुस्तक में 30 आलेख और टिप्पणियाँ हैं जिनका चिंतन-फलक अत्यंत व्यापक और बहुआयामी है। मूलत: ये पुस्तकों की समीक्षाएँ हैं लेकिन हिन्दी में पुस्तकों की चलताऊ समीक्षा-शैली से पृथक पुस्तकों की अंतर्वस्तु के साथ ही पुस्तक-लेखक की विचारधारा, उससे विचलन और उसकी प्रतिबद्धता जैसे अनेक पक्षों की गहरी पड़ताल करने वाली समीक्षाएँ हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि राठीजी इन पुस्तकों की समीक्षा के बहाने अपनी गहन मानवीय निष्ठा के साथ अपने समय के उन सवालों से मुठभेड़ करते हैं, जिनसे अक्सर राजनेता, बुद्धिजीवी और साहित्यकार कतराकर चल देना सुविधाजनक समझते हैं। पुस्तक की प्रारंभिक टिप्पणी "उसे किताबें दो, किताबें दो" में लेखक हमारे सामने यह मौजूँ सवाल रखते हैं, "लेखक के नाते भी यह उलझन मुझे महसूस होती है। क्या है जिसकी तारीफ़ की जाती है– जीवन के मानसिक, आध्यात्मिक, जैविक, भौतिक, सामाजिक या राजनैतिक–किसी भी अन्य क़िस्म के–यातना के अनुभव की? उनमें पिसते-मिटते जीवन की? उस जीवन को कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करने की?" 'कल आज और कल' पुस्तक इन्हीं प्रश्नों के बीच पुस्तकों की गंभीर समीक्षा के ज़रिए हमारे अतीत और वर्तमान की शल्य-चिकित्सा ही नहीं करती, उस भविष्य के भी संकेत देती है, जो भूमंडलीकरण की बाज़ारवादी होड़ में मंगलदायी नहीं है।

बेगम अनीस क़िदवई की महत्वपूर्ण पुस्तक 'आज़ादी की छाँव में' (हिन्दी अनुवाद) 1990 में नेशनल बुक ट्रस्ट से प्रकशित हुई थी। इसकी प्रासंगिकता पर विचार करने से पूर्व राठीजी का यह सटीक मंतव्य आज के हिंसक दौर में सर्वथा स्मरणीय है, "कभी-कभी कुछ सवालों के दो टूक जवाब भी दिए जाने चाहिए। मसलन सांप्रदायिकता की जड़ क्या है, इसका दो टूक जवाब है; राजनीति। सांप्रदायिकता की एकमात्र जड़ राजनीति है। राजनीति का एकमात्र अर्थ है 'राज करने की नीति।' राज करने का एकमात्र तरीका है, 'फूट डालो राज करो' (पृष्ठ 80)। 1947 का दंगा हो या उसके बाद से होते रहने वाले दंगे हों, सबके मूल में यही सर्वग्राही राजनीति रही है। दंगों की भयावहता मनुष्यता को तार-तार करके रख देती है। राठीजी का यह कथन हमारे विफल लोकतंत्र, संविधान और न्याय व्यवस्था की हक़ीक़त का सच्चा बयान है–"अक्सर हम इतिहास के निर्णय के आगे सिर झुका दिया करते हैं पर जो बनता हुआ इतिहास है उसके सामने असहाय कर देने वाली एकमात्र शक्ति राजनीति है" (पृष्ठ 83)। निस्संदेह 'आज़ादी की छाँव में' पुस्तक भारत के सभी साक्षर और शिक्षित नागरिकों को पढ़ने को मिले ताकि वे भारत को राजनैतिक हिस्सेदारी से बचा सकें।

'सिंगूर के सच' एक ऐसा राजनैतिक विश्लेषण है जिससे भारत के वाम आंदोलन की किसान-विरोधी पूँजीपरस्ती सामने आ जाती है। यह अंतर्विरोध भी दृष्टिगत होता है कि विचारधारा की एकता के बावजूद लक्ष्य की एकता क्यों नहीं हो पाती है? क्यों सभी वामपंथी पार्टियाँ 'अपनी ढफली अपना राग' अलापती रही हैं कि उन्हीं की लाईन ही सही लाईन है? सिंगूर और नंदीग्राम की दारुण घटनाओं ने निश्चय ही वामदलों की राजनीति को आईना दिखलाने का काम किया है। राठीजी 'सिंगूर के सच' में वाम दलों के अंतर्विरोधों को सामने रखते हुए यह सही सवाल खड़ा करते हैं– "क्या सिंगूर के खेतों की ख़रीद-बिक्री में नेकनीयती और सिद्धांत-दर्शन दाँव पर लगा दिए गए हैं? हम जैसे लोग यह कैसे भूल जाएँ कुछ साल पहले तक 'मुर्दाबाद' के सबसे बड़े सुपात्र टाटा-बिड़ला-डालमिया-जूट प्रेस वग़ैरह ही हुआ

***संपर्क** : हरीतिमा, चौधराइन मॉंदर गली, नया टोला, मुज़फ़्फ़रपुर-842001 मो. 09334985417*

करते थे।" (पृष्ठ 169) मुझे भी याद है, जब सिंगूर-नंदीग्राम में गोलियाँ चलीं तो मैंने विचलित होकर नामवर सिंह और राजेंद्र यादव से उनकी प्रतिक्रिया माँगी थी। नामवर सिंह ने कहा कि यह वाम-आंदोलन के लिए कलंक है लेकिन राजेंद्रजी ने कहा था, अभी मैं 'वेट और वॉच करूँगा। उल्लेखनीय है कि नामवरजी प्रगतिशील लेखक संघ के शिखर थे तो राजेंद्रजी जनवादी लेखक संघ के। मतलब कि न् तो वामपंथी पार्टियाँ अपनी भूलें स्वीकार करती हैं और न ही उससे जुड़े लेखक संघ। इसी सिलसिले में 'मार्क्सवादी और भूमंडलीकरण' शीर्षक गिरीश मिश्र की पुस्तक के संदर्भ में राठीजी यह ज्वलंत प्रश्न उठाते हैं क्योंकि गिरीश मिश्र जैसे लाखों लोगों की तरह हम सब भारत के मार्क्सवादी दलों से निराश हो चुके हैं। क्या भारत के मार्क्सवादी दल इस सवाल के आईने में अपने पारस्परिक विरोधों एवं अंतर्विरोधों को त्यागकर 'सर्वहारा के अधिनायकत्व' को एकमात्र लक्ष्य मानकर आंदोलन के लिए निकल सकेंगे- समयानुसार मार्क्सवाद के नए-नए संस्करण होते गए हैं– उन सबसे क्या नतीजे निकले हैं वास्तविक व्यवहार में? आख़िर मार्क्सवाद को तो 'व्यवहार का दर्शन' (फ़िलॉसफ़ी या थीयरी ऑफ़ प्रैक्टिस) कहकर ही बेहतर घोषित किया जाता रहा है। (पृष्ठ 75) इस अत्यंत पठनीय पुस्तक का अत्यधिक सार्थक आलेख है 'इतिहास और यथार्थबोध'। नये सिरे से इतिहास लिखने की कवायद के परिप्रेक्ष्य में यह लेख प्रासंगिक तो है ही, पठनीय भी है। मुझे यहाँ लोभ हो रहा है, राठीजी के कथन को उद्धृत करने का- "एक ही इतिहास अलग-अलग क़िस्म का यथार्थ-बोध करा दे सकता है। मोहनदास गाँधी जब दक्षिण अफ़्रीका गए, तब हमारे मज़दूर गिरमिटियों और पारसी और अरब कहलाने वाले हमारे व्यापारियों ने इतिहास के दबाव में मान रखा था कि उनकी नियति अपमान, पीड़ा, गुलामी ही है। मोहनदास गाँधी ने उस इतिहास को बिल्कुल दूसरी तरह से पढ़ा। बोध हुआ कि तत्कालीन अन्यायी क़ानूनों के तहत भी आत्मसम्मान का कुछ अंश भारतीय वंशजों को दिलाया जा सकता है। उससे भी अधिक, इतिहास के एक अप्रशिक्षित विद्यार्थी होने के बावजूद, उन्होंने पाया कि क़ानून बदले भी जा सकते हैं। सारी दुनिया में और समूचे मानवीय इतिहास में परिवर्तन, सुधार या क्रांति के लाखों उदाहरण इतिहास के इसी तरह के दोहरे-तिहरे पाठों से भरे पड़े हैं।" (पृष्ठ 118) लेखक का यह दारुण निष्कर्ष चाहे जितना पीड़ादायक हो लेकिन हमारी नियति का रूप धारण करता दिख रहा है- "आज़ादी की लड़ाई जिस पहचान–भारतीयता–के लिए लड़ी गई थी, उसे छिन्न-भिन्न करने की बढ़ती हुई सर्वसम्मति मुझे एक निकृष्ट यथार्थबोध जान पड़ती है।" (पृष्ठ 118)

इस पुस्तक के अन्य महत्वपूर्ण आलेखों में- 'कितना गहरा है बँटवारा', 'जसवंत के जिन्ना', 'मेरा देश तुम्हारा देश', 'इतिहास-नायकों की दीर्घा में', 'राजनीति में पागलपन की पहचान', 'एटमी हड़कंप में दबी हुई चुप्पियाँ' और 'रूसी बौद्धिक परंपरा के द्वंद्व' आदि और कई-कई आलेख सर्वथा पठनीय हैं।

अंत से पहले मैं इस पुस्तक के दो आलेखों की चर्चा करना चाहूँगा, जो महात्मा गाँधी के लेखों का संग्रह 'हिंदू धर्म क्या है' और किशन पटनायक की पुस्तक 'विकल्पहीन नहीं है दुनिया' की समीक्षा है। 1974 में रेल-कर्मचारियों की हड़ताल हुई थी और उनके साथ सरकार ने बर्बर व्यवहार किया था, घर से पकड़-पकड़ कर उन्हें जेल में डाला था। राठीजी का यह कहना शब्दशः सही है, "गाँधी और लोहिया के बाद शायद किशन पटनायक ही आज़ाद भारत के ऐसे राजनेता हैं, जिन्होंने बौद्धिक समुदाय के 'कठोर हृदय' और गतानुगतिक-नक़लची दिमाग़ पर लगातार दस्तक दी है।" (पृष्ठ 138) किशनजी ने जिस विकल्प वाली दुनिया के बारे में गहन चिंतन-मनन किया है उसके लिए जिस बुद्धिजीवी की भूमिका तय की है, वह कुछ इस प्रकार होगी- "उनकी कल्पना का बुद्धिजीवी (स्त्री-पुरुष) होगा, जो अपने विषय में पारंगत हो, अपनी विधा को निजी स्वार्थ-साधन की वस्तु न समझता हो, अपने निजी और पारिवारिक और वर्ण, जाति, वर्ग हितों से परे जाकर समूचे समाज (और मानव जाति) के हित में अपने हुनर लगाने को तैयार हो और सबसे अधिक, किसी भी तरह की ढाँचागत सोच से उबर कर नया कुछ सोचने, बनाने, करने के लिए तैयार हो।" इसके बाद राठीजी का यह प्रश्न हमारे बुद्धिजीवी-समाज के सामने एक बड़ी चुनौती लेकर खड़ा हो जाता है-"क्या हमारे बौद्धिक ऐसा कोई साहस करेंगे? "किशन पटनायक अपने लेखों में कई जगह दिखाते हैं कि मध्यवर्ग, ख़ासतौर से उच्च मध्यवर्ग भूमंडलीकरण, निजीकरण और उदारीकरण के जिन मंत्रों से मुग्ध हुआ जा रहा है, उसकी असलियत क्या है? असलियत यह है कि तथाकथित नई सभ्यता के इन मंत्रों से थोड़े से लोग तो निश्चय ही 'स्वर्ग' का आनंद ले सकते हैं, लेकिन बाक़ी साठ-सत्तर-अस्सी फ़ीसदी मानव-जाति का भविष्य रुआण्डा-बुरुंडी-सोमालिया वाला ही है। यानी भुखमरी, रोग, निरक्षरता-अशिक्षा, क़बीलाई (जाति-उपजाति, राज-उपराज्य के बीच) खूनी संघर्ष। चाहे पृथ्वी के समूचे साधनों का और उनके दोहन के तरीकों का हिसाब लगाकर देखें, चाहे वर्ल्ड बैंक वग़ैरह की राजनैतिक-सामाजिक-आर्थिक दृष्टि और योजनाओं का मूल्यांकन करके देखें, चाहे टेक्नॉलाजी के भावी चमत्कारों के संभावित नतीजों की माप-तौल करें- बहुसंख्यक मानव-समुदाय नरक या सर्वनाश के लिए अभिशप्त है"। (पृष्ठ 141) इसी संदर्भ में राठीजी पूछते हैं- "कहाँ हैं वे प्रतीक और रूपक जो संचार-साधनों के भयानक विस्फोट के दौर में भी सामूहिक जन-मानस को किसी विकल्प की तलाश में प्रवृत्त कर सकें और मौजूदा छद्म प्रतीकों का प्रतिकार कर सकें?" (पृष्ठ 144)

'हिंदू धर्म क्या है' राष्ट्रपिता गाँधीजी की एक ऐसी कृति है, जो धर्म के नाम पर चली आ रही अंध आस्था, रूढ़ परंपरा और तर्कहीन विश्वासों की धुंध को साफ़ कर हमें व्यापक मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित करने को प्रेरित करती है। धर्म और राजनीति के जिस अवांछित गठजोड़ को पूँजी की ताक़त लगातार मज़बूत करती रही है, उसके बरक्स इस पुस्तक के लेख हमें यह सीख देते हैं कि ईसाई, मुसलमान, सिख, पारसी कोई भी धर्म हो जब तक उन्हें सहज आस्था और आलोचनात्मक बुद्धि-विवेक की सान पर चढ़ाकर आचरण और अनुभव का अंग नहीं बनाया जाता, तब तक धर्म धर्म नहीं हो पाता"। (पृष्ठ 105) गाँधीजी की डेढ़ सौवीं जयंती के साल में निस्संदेह यह पुस्तक देशवासियों को ही नहीं, समस्त विश्व-समुदाय को यह संदेश देती है- "हम सभी अपनी क्षुद्रताओं, छोटे-बड़ेपनों, अधूरेपनों के साथ अपने-अपने रास्ते खोजें और अपने तईं अपना परम सत्य पाएँ- यह बात इस सुंदर किताब से जिस तरह समझ में आती है, उस तरह किसी और किताब से नहीं।" (पृष्ठ 106)

मानव-सभ्यता के इस संहारकाल में सभ्यतालोचन की इससे अच्छी पुस्तक देखने को कम ही मिलेगी। इसलिए इसके लेखक गिरधर राठी, रज़ा पुस्तक माला के प्रधान संपादक अशोक वाजपेयी और संभावना प्रकाशन, हापुड़ के अभिषेक अग्रवाल बधाई के पात्र हैं। ❑

● गिरधर राठी की कविताएँ

बाइबिल

हम जानते हैं
वे क्या कर रहे हैं
और उन्हें कभी माफ़ नहीं किया जाएगा।

हम क्या जानते हैं
हम जो नहीं कर रहे हैं
और हमें कभी माफ़ नहीं किया जाएगा।

वे जानते हैं
क्या कर रहे हैं
हम जानते हैं

जानने की कोई सज़ा नहीं।

उखड़ी हुई नींद

सच वह कम न था
नींद उखड़ी जिससे;
न ही यह कम है
उखड़ी हुई नींद
जो अब सपना नहीं बुन सकती।

अँधेरे में
या रोशनी जलाकर
जो भी अहसास है
सच वह भी कम नहीं

पर नींद वह क्या नींद
जो बुन न सके सपने!
कैसी वह भाषा
जो कह न सके
देखो!

जब ये शब्द भी भोथरे हो जाएँगे

चोर को कहा चोर
वह डरा
थोड़े दिन
डरा क्योंकि उसको पहचान लिया गया था

चोर को कहा चोर
वह खुश हुआ
बहुत दिनों तक रहा खुश
क्योंकि उसे पहचान लिया गया था

फिर छा गया डर
क्योंकि चोर आख़िर चोर था
बोलने वालों के हाथ सिर्फ़ हाथ थे
हाथ भी नहीं केवल मुँह थे
मुँह भी नहीं केवल शब्द थे
शब्द भी नहीं
केवल शोर...

चोर! चोर!!

इस्लाह

हमें भी एक दिन
एक दिन हमें भी
देना होगा जवाब

इसलिए
लिखें अगर डायरी
सही-सही लिखें
और अगर याचिका लिखनी है
लिखें समझ-बूझ कर

लेकिन अगर चैन न हो हमारा आराध्य
और हम रह सकें बिना अनुताप के
तब न करें स्याह ये
धौले-उजले पन्ने!

स्वर्ग से एक और रपट

एक

मृत्यु-लोक से वे आते हैं
देवता की तरह
और राक्षस बनते चले जाते हैं
स्वर्ग में क़ानून और व्यवस्था की विडंबना है
यह भी

आधे देवता और आधे राक्षस–
फिर वे मृत्युलोक के लायक़ नहीं रह जाते

दो

स्वर्ग में घी के पहाड़ थे
दूध के जंगल
चैन के चक्रवात

हम भूल आए थे नाख़ून
और रोंए

तीन

औरतें देवियाँ थीं
आदमी देव
स्वर्ग में बच्चे नहीं थे

चार

धीरे-धीरे ख़त्म होती जाती है
मानुषगंध
स्वर्ग में

स्वर्ग एक और मृत्युलोक बन जाता है।

आत्मा

सुना है कभी-कभी चटख़ना उसका
सुना है कभी वह करती है पुकार
सुना है सूख भी जाती है वह
कभी-कभी सुना है मिलन
दो आत्माओं का

आत्मा के बारे में
बस यही थोड़ा-सा पता है
आँखों उसे कभी देख नहीं पाया
हाथों से उसे कभी छुआ नहीं

तब भी कहा मैंने
तुम हो
पवित्र
एक आत्मा-सी!

जज़्बा

क़लम की निब टूट गई
यह तो अच्छा नहीं हुआ स्याही
ढुलक गई यह अच्छा है पिता ने कहा
मैंने मान लिया पूछ लिया और
कौन-सी बात अच्छी हो सकती है
बोले दवाई बगर जाना पीठ पीछे
छींक होना दाईं आँख फड़कना हाथ की
गदोली दाईं खुजलाना और मैंने पूछा
क्या खुजला सकता हूँ बोले सर मैंने पूछा
और
कुछ नहीं बोले लगे देखने मेरी तरफ़
बोले लँगोट पहनना चाहिए हनुमान का
या किसी भी देवता का इष्ट
रखना चाहिए सुंदरकाण्ड का पाठ
नित्य ही करना चाहिए मैंने कहा
करता था दर्जा आठ तक कंठस्थ था
पूछने लगे ज़िंदगी में
क्या बनना चाहते हो
श्रवण की कथा सुनी है भगवान राम
कितने आज्ञाकारी थे, मैंने कहा
भूल गया कहें तो पढ़ लूँ फिर से बोले
तुम्हें तमीज़ नहीं है
नहीं
पिता ने कभी नहीं कहा मुझे। ❑

कविता एक आवर्ती घटना होती है

गिरधर राठी



जन्म : 1 अगस्त 1944 पिपरिया (म.प्र.)। कवि, आलोचक एवं अनुवादक। मौलिक और अनूदित लगभग 40 पुस्तकें प्रकाशित। 'समकालीन भारतीय साहित्य' का संपादन। तेरह वर्ष तक अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक 'ऑल्टरनेटिव्ज़' और 5 वर्ष से 'चायना रिपोर्ट' का संपादन।

कविता के इतने सारे शास्त्र और शास्त्रार्थ हज़ारों बरसों में जमा हो चुके हैं कि उन्हें छूते हुए भी अब डर लगता है। सबसे बड़ा डर तो यही कि शास्त्रीय वाद-विवाद में कविता खुद ग़ायब हो जाती है, बच रहता है सिर्फ़ वितंडा। शास्त्रार्थ में कविता एक परिघटना हो जाती है–जबकि कविता वास्तव में एक घटना होती है। कहना चाहिए कि कविता एक आवर्ती घटना होती है–लिखने वाले के लिए और पढ़ने-सुनने वाले के लिए। लिखी तो वह एक ही बार जाती है, लेकिन पढ़कर, सुनकर और उसे याद करके हम उसे बार-बार और हर बार घटित होते देखते, अनुभव करते हैं। अक्सर यह लगता है कि कविता पर बात क्या की जाए? जो बात है, वह तो खुद कविता ही है। लिखने वाले के मन में भले ही संशय रहा आए– कि उसने जो लिखा है वह कविता है भी या नहीं–लेकिन अगर सुनने-पढ़ने वाले को लगे कि हाँ, यह कविता है, तो बस! लेखक ने लिख दिया-वहीं उसका काम पूरा हो चुका और जैसा कि कहा भी गया है–यह कविता के भाग्य पर निर्भर है कि वह बचती है या नहीं।

कविता का अंतिम आश्रय स्मृति है– पढ़ने-सुनने के बाद अगर वह हमारी स्मृति में बनी रहती है, तो बची रहती है लेकिन वह किसी जड़ या अचल वस्तु की तरह नहीं बची रहती है–वह एक जीवित इकाई होती है, जो पनपती, बढ़ती, फैलती रहती है। विविध अवसरों पर, विभिन्न प्रसंगों में वह सहसा नए रंग, नए अर्थ, नई अर्थवत्ता, नई सत्ता ग्रहण करती रहती है। याद आने पर हर बार वह फिर से एक घटना हो जाती है, चाहे उसे हम चुपचाप याद करें या किसी को सुनाते हुए, दोहराते हुए याद करें।

शायद इस उद्भावना को ज़्यादा खींचने पर हम भी किसी शास्त्रीय लकीर के फ़क़ीर होते हुए लग सकते हैं लेकिन कविता की स्मृति हमारे जीवन की अन्य स्मृतियों से बहुत अलग क़िस्म की होती है। मसलन, कविता की स्मृति 'व्यतीत' की स्मृति जैसी नहीं होती। सीधे-सीधे हम यह भी कह सकते हैं कि स्वयं कवि की स्मृति एक व्यतीत की स्मृति होती है, जबकि कविता की स्मृति साक्षात् या प्रत्यक्ष या जीवंत स्मृति होती है। खुद कवि के मुँह से कविता सुनना आगे चल कर एक व्यतीत घटना की तरह स्मृति में आता है; कविता को याद करना आज, इसी क्षण जीवन को जीना है। कविता-पाठ को याद करते हुए भले ही हमारे कानों में कवि का स्वर गूँजता प्रतीत हो, उसकी भावमुद्राएँ आँखों के सामने नाच उठती लगें लेकिन हम तब याद कर रहे होते हैं व्यतीत को लेकिन कविता को पढ़ते, सुनते या गुनते हुए हम उसी क्षण किसी यात्रा पर निकल पड़ते हैं–अपने मन में या बौद्धिक धरातल पर.....

यह नुक़्ता कुल मिला कर शायद कोई नया नुक़्ता नहीं है, पर इस ओर मेरा ध्यान अभी हाल में संजीव मिश्र के प्रसंग में ही गया। कोलकाता में बैठे अपने आत्मीय बुज़ुर्ग मित्र अशोक सेकसरिया को फ़ोन पर जब मैंने यह बताया कि 9 फरवरी को जयपुर जाना है तो वह तुरंत संजीव मिश्र की कविता का यह अंश सुनाने लगे। फिर बोले कि रुकिए, मैंने इसे कहीं लिख रखा है। और आश्चर्य कि उन्होंने तुरंत अपने ही खाते या डायरी से खोज कर, मुझे पढ़ सुनाया। वह अंश यह है–

"दुनिया की बढ़ती ग़ैरज़िम्मेदारी में
सच्चाई को संभालने के लिए
कल सबसे ज़्यादा ज़रूरत होगी
सही और ज़िम्मेवार
शब्दों की।"
('मिले बस इतना ही' संग्रह में)

संजीव मिश्र के आत्मकथ्य के रूप में यह पहली कविता है–'ज़िम्मेदारी'। अशोकजी ने फिर भी कहा कि हम सभी को बहुत ज़िम्मेदारी से बोलना या लिखना चाहिए। संजीव मिश्र की यह कविता एक अच्छी कविता की तरह, हमारे बीच उपस्थित थी और इस कविता के साथ मेरी एक और यात्रा शुरू हो गई।

हम में से अधिकाँश लोगों ने कविता के बारे में कविताएँ लिखी हैं–कभी-कभी न चाहते हुए भी। मैंने एक बार फिर अपनी एक और प्रिय पुस्तक उठा ली माइकेल हैम्बर्गर की 'द ट्रूथ ऑफ़ पोएट्री'।

पिछले अनेक बरसों से यह पुस्तक मैं अक्सर उठाकर पढ़ने लगता हूँ। आधुनिक कविता पर कवि माइकेल हैम्बर्गर का यह एक अनोखा आलोचना-विमर्श है। आधुनिकता और आधुनिकतावाद के लगभग सभी पहलुओं पर दुनियाभर के कई कवियों के साक्ष्य से उन्होंने गंभीर चिंतन-मनन किया है। पश्चिम में आधुनिक कविता की शुरुआत शार्ल बोदलेयर से मानी गई है–कुल मिलाकर दुनियाभर में बीसवीं सदी का कविता-विमर्श सचमुच ही बोदलेयर और टीएस. इलियट के इर्द-गिर्द ही रहा है। भानु भारती से इसका ज़िक्र करते ही उन्होंने जोड़ा–हाँ, पश्चिम की कविता में आधुनिकता हो सकता है बोदलेयर से शुरू हुई हो, लेकिन हमारे यहाँ? मैंने कहा, नज़ीर को वहाँ कौन याद करता है! भानु भारती ने कहा और ग़ालिब?

हमारे शास्त्रार्थियों के लिए यह एक दिलचस्प विषय हो सकता है– बोदलेयर के समकालीन, ग़ालिब और उनसे पहले हो चुके मीर और नज़ीर .... क्या उनसे आधुनिकता की शुरुआत मानी जा सकती है? फिर कबीर से क्यों नहीं?



भोपाल में ऑस्ट्रेलिया की कवयित्री जूडिथ रोड्रिगेज़, अर्जेन्टिना के कवि रोबेर्तो ख्वारेज़ और वंशी माहेश्वरी के साथ

बहरहाल; माइकेल हैम्बर्गर की एक टिप्पणी पर लौटने से पहले, एक और बात, उन्हीं के शब्दों में–

"बीसवीं सदी की अनेक प्रकार की कविताओं की मेरी जाँच-परख से अगर कोई बात साबित होती है–तो वो ये कि जिन तनावों के भीतर से कविता उत्पन्न होती है वे (तनाव) बहुत लंबे समयों तक क़ायम रहते हैं, भले ही शब्दावली एक से दूसरे दशक में या एक से दूसरे बरस में बदलती रहे"। हैम्बर्गर ने कोष्ठक में यह भी कहा है कि उनकी तमाम जाँच-पड़ताल किसी पूर्वनिश्चित नतीजे साबित करने के लिए नहीं थी"।

हैम्बर्गर ने गेटे (गोएटे) का उद्धहण जोड़ा है-'आर्ट कंसर्न्स इटसेल्फ़ विद द डिफ़िकल्ट ऐंड द गुड'-कला कठिनाई और अच्छाई से ताल्लुक रखती है। यहीं हम यह जोड़ सकते हैं कि चूँकि कविता पैदा करने वाले तनाव यथावत रहे आते हैं–भले ही उन्हें हम समय-समय पर नए-नए नामों से पहचानते रहें, शायद इसीलिए कविता–अच्छी कविता कभी समाप्त नहीं होती। कविता कालातीत कही जाती है–शायद इसलिए भी कि पढ़ी-सुनी-गुनी जाते हुए वह हर बार हर जगह हर युग में साक्षात् उपस्थित हो जाती है।

'ज़िम्मेदारी' शीर्षक कविता पढ़ते हुए भी बहरहाल ध्यान उस तरह की कविता पर भी गया जो स्वयं कविता के बारे में होती है। यानी कविता के उपादानों पर–जिनमें शब्द ही सबसे महत्वपूर्ण हैं। शब्द ही तरह-तरह से विन्यस्त होता है, वाक्य या वाक्यांशों में, लय-संगीत-चित्र इत्यादि की रचना करता हुआ।

अक्सर ऐसा हुआ है–खुद सहभागी होने के बावजूद कि अपने माध्यम पर विचार करती कविताओं मुझे विरत भी किया है। यहाँ माइकल हैम्बर्गर का एक लंबा-सा उद्धरण देने का मन है, क्योंकि उसमें और भी कई प्रश्न उठते और बैठते हैं:

"...मुझे कविता पर दो ध्रुवांतों पर ख़तरे नज़र आते थे। एक तरफ़ तो मनोरंजन उद्योग का ख़तरा और दूसरी तरफ़ भाषाई प्रयोगशालाओं में कविता के अरूप होते जाने का (रेअरीफ़िकेशन) का ख़तरा। डब्ल्यू. एस. ग्राहम के परवर्ती कृतित्व में 'प्रयोगशालाई' अनुभव का अत्यंत असाधारण उपयोग हुआ है–कवि जहाँ अपनी कला के उत्पादन से अर्थात् भाषा से जूझता है। ग्राहम वहाँ उबाऊ ढंग से 'मेथॉडिकल' नहीं है बल्कि चित्ताकर्षक, मार्मिक और जीवंत है। इससे मुझे कविता के माध्यम की अपरिहार्य अशुद्धता के बारे में फिर से सोचना पड़ा। संगीत की तुलना में कविता का माध्यम अपरिहार्य अशुद्धता का माध्यम है। मुझे इस पर भी सोचना पड़ा कि कविता को 'सब्जेक्ट मैटर' की 'विषय-वस्तु' की हमेशा ज़रूरत पड़ी है लेकिन अगर अच्छी कविता लिखने के लिए जूझते हुए अच्छी कविता रची जा सकती है, तो मुझे लगा कि कविता मेरी धारणा से कहीं अधिक अनुपात में स्वायत्तता की अधिकारिणी हो सकती है; या दूसरे शब्दों में, उसके लिए विषय-वस्तु उस हद तक महत्वपूर्ण नहीं है-जैसा कि मैं मान कर चला था-बशर्ते कि विधियों और प्रक्रियाओं का यांत्रिक उपयोग करके मानवता को ही उसमें से बहिष्कृत न कर दिया जाए। हर हाल में, भाषा मानवता का ऐसा निर्णायक और अपरिहार्य अंग है कि प्रयोगशालाओं के बाहर भी वह उपयुक्त विषय-वस्तु हो सकता है। ....

"अतएव भाषा व्यवहार के मामले में, एक अच्छी कविता और एक बुरी कविता के बीच या एक जीवंत और मुर्दार कविता के बीच फ़र्क़ इस बात से पड़ता है कि 'कैसे' किया गया, न कि 'क्या' किया गया... विषय नहीं, बल्कि विषय को किस तरह बरता गया, संगीत की तरह उपजाया गया, यही निर्णायक तत्व है। और इस तरह कविता पुन: एक बार संगीत के निकट जा पहुँचती है, बावजूद इसके कि कविता के 'अर्थ' या आशय का झमेला भी उठाना ही पड़ता है।"

अगर आपको माइकेल हैम्बर्गर के साथ इतनी देर भटकना अखर रहा हो तो क्षमायाचना के साथ मैं यही कह सकता हूँ कि इसके लिए



असमिया कवि अनुभव तुलसी के साथ

दोषी दो ही तत्व हैं- एक तो अशोक सेकसरिया और दूसरे संजीव मिश्र की कविता 'ज़िम्मेदारी'। सिर्फ़ यह कविता नहीं, अन्य कई कविताएँ भी संजीव मिश्र ने अपने माध्यम की छान-बीन करते हुए लिखी हैं। हिन्दी में एक विशाल परंपरा है जिसे रखकर हम संजीव मिल की कविताओं का आस्वाद ले सकते हैं। फ़िलहाल सिर्फ़ एक और कविता, उन्हीं की–

अहं की धूल

अनुभव के दर्पण पर / इतनी जमी / अहं की धूल / कवि / कविता से बड़ा / हो गया / कविता करना भूल।

(संजीव मिश्र स्मृति व्याख्यान, जयपुर, 2010 का एक अंश)

❑

आवश्यक सूचना

चंदा भेजने और चंदे के बारे में पूछताछ के लिए अथवा पत्रिका प्राप्त न होने की स्थिति में कृपया वितरण एवं विज्ञापन व्यवस्थापक से सीधे संपर्क करें।

पता : वितरण एवं विज्ञापन व्यवस्थापक
प्रकाशन विभाग, कमरा नं. 56, सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्पलेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003
फोन नं. : 011-24367453
ई-मेल : pdjucir @ gmail.com

● छह ग़ज़लें : ज्ञानप्रकाश विवेक



जन्म : 30 जनवरी, 1949 । बहादुरगढ़ (हरियाणा)। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित। 28 पुस्तकें प्रकाशित। बाबू लाल मुकुंद गुप्त सम्मान से सम्मानित। वर्ष 2014-15 में संस्कृति मंत्रालय द्वारा हिन्दी ग़ज़ल पर सीनियर फ़ेलोशिप प्राप्त।

(1)

तुम्हें जीने का लालच हमको मर जाने की आदत है
कि हम हैं बुलबुले हमको बिखर जाने की आदत है

कि तुम तो धूप में छतरी उठाकर घर से चलते हो
मगर पेड़ों तले मुझको ठहर जाने की आदत है

मेरा दिल एक ज़िद्दी-सा कोई बिगड़ैल बच्चा है
मैं जाता हूँ इधर, उसको उधर जाने की आदत है

तमाशा देखना साहिल पे बेशक शौक़ है तेरा
मगर मुझको तो दरिया में उतर जाने की आदत है

मैं बेघर हूँ कई जनमों का आदत है भटकने की
कि तेरा घर है, तुझको अपने घर जाने की आदत है

मेरा दुख तो बहुत मैला-कुचैला है मेरे अंदर
मगर तेरी खुशी को बन-संवर जाने की आदत है

मैं उनके वास्ते मिट्टी के दीपक लेके आया हूँ
अँधेरे में मेरे बच्चों को डर जाने की आदत है।

(2)

हैरान हूँ मैं आपका किरदार देखकर
सहमे हुए हो काग़ज़ी तलवार देखकर

पत्थर उछालने का मुझे शौक़ है मगर
मैं रुक गया हूँ काँच की दीवार देखकर

यारो, हवाओं ने भी बजाई हैं तालियाँ
मिट्टी के इक चराग़ का तक़रार देखकर

बारिश का इस तरह किया लोगों ने स्वागतम्!
छतरी उठा ली हाथ में बौछार देखकर

साइकिल है मेरे पास पुरानी-सी दोस्तो!
मैं डर गया हूँ कार की रफ़्तार देखकर

फिर आज मुझको याद बहुत आए हैं पिता!
कमरे की खूंटी पर टंगी दस्तार देखकर।

(3)

इस बात की लड़ाई उस बात की लड़ाई
हर बात पे हमारी होती रही लड़ाई

हम सबकी ज़िंदगी की इतनी-सी है कहानी
हर शख़्स लड़ रहा है इक काग़ज़ी लड़ाई

तक़रार छोटा-मोटा अच्छा था घर के अंदर
अब आम हो गई है तेरी-मेरी लड़ाई

तुम हो कि जीतने का वरदान पा चुके हो
मैं हूँ कि लड़ रहा हूँ हारी हुई लड़ाई

यारो, पतंग जैसी थी ज़िंदगी हमारी
सांसों की डोर टूटी तो ख़त्म थी लड़ाई

पैरों के नीचे आकर जो मर गई है चींटी
जब तक रही वो ज़िंदा, लड़ती रही लड़ाई

उसके बदन के सारे कपड़े फटे हुए हैं
वो लड़ के आ रही है कोई बड़ी लड़ाई

इस दौर की सियासत लगती है इक क़बीला
सरदार लड़ रहे हैं बेवजह की लड़ाई

अपने भवन में तुमने बारिश का जश्न देखा
कच्चे घरों से पूछो, कैसे लड़ी लड़ाई

आँखों में अश्क लेकर हम-तुम जुदा हुए थे
क्या याद है तुम्हें भी वो आख़िरी लड़ाई!

(4)

तू पूछता है मैं तुझसे हुआ जुदा कैसे
मैं तेरे साथ बहुत तेज़ दौड़ता कैसे

तू कहकशाँ को बिछाकर ज़मीं पे चलता था
मुझे बता कि ये काँटा तुझे चुभा कैसे

कोई मदद नहीं करता शदीद ज़ख़्मी की
कि पूछते हैं सभी हादसा हुआ कैसे

इसीलिए नहीं आया तुम्हारे उत्सव में
कि अपनी माँ को अकेला मैं छोड़ता कैसे

अभी तो मेज़ पे रक्खे थे चाय के प्याले
वो जाने उठ के अचानक चला गया कैसे

निकले रहा था शहर में अमीर का लश्कर
मैं अपनी खोई अठन्नी को ढूँढता कैसे

(5)

सुनकर सदाएँ बच्चों की वो घर चले गए
सारे सिपाही छोड़कर लश्कर चले गए

क्या जाने किसको ढूँढता-फिरता हूँ रात को
जो मेरे साथ थे वो सभी घर चले गए

मैं तो उबालता रहा चाय को गैस पर
जल्दी में सारे दोस्त थे, आकर चले गए

इक अजनबी सड़क पे खड़ा भीगता रहा
बारिश में सब मकान के अंदर चले गए

जो फ़तह करने आए थे हिंदोस्तान को
टूटे-थके हुए वो सिकंदर चले गए

मंडी में सस्ते दाम पे बिकता रहा ज़मीर
आए भी और आके पयंबर चले गए

उनके लिए ये शहर कभी सोचता नहीं
ऐसे हज़ारों लोग जो बेघर चले गए

अनबन मेरे पिता से हुई आज इस क़दर
चुपचाप बैग उठा के वो दफ़्तर चले गए

(6)

बस्ती में तो दूर तलक सन्नाटा है
फिर ये कैसा शोर सुनाई देता है

उसकी सूखी आँखों को देखो लोगो
लगता है वो आँसू बेच के आया है

वक़्त का मारा शायद कोई आ जाए
मैंने दरवाज़े को खोल के रक्खा है

हाथ छुड़ाकर बिछुड़ गए सारे साथी
बहुत अकेला ये जीवन का मेला है

चलते हुए व्याकुल लगता है वो जैसे
अंगारों के जूते डाल के आया है

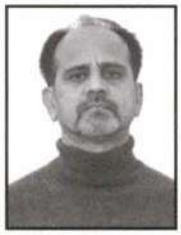
उसने मेरे दिल में अँधेरा देखा था
उसने ख़त में जुगनू मुझको भेजा है

बिना रुके सब रेलगाड़ियाँ चली गईं
आउटर सिग्नल यारो बहुत अकेला है

और कोई होता तो उसे उठा देता
मेरी कुर्सी पर इक बच्चा बैठा है ❑

***संपर्क** : 1875, सेक्टर-6, बहादुरगढ़-124507 (हरियाणा) मो. 9813491654*

● छह कविताएँ : **मणि मोहन**



जन्म : 2 मई 1967, विदिशा (मध्य प्रदेश)। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित। उर्दू, मराठी, गुजराती, पंजाबी सहित अनेक भाषाओं में कविताएँ अनुदित। कविता के लिए वागीश्वरी सम्मान।

बारिश

यह रेनकोट पहने हुए
आदमी का
एकालाप नहीं
प्यासी धरती की कोख में
दुबके हुए
बीज की प्रार्थना है।

रंग-संवाद

पेड़ों ने भेजी हैं
धरती को
अनगिनत पीली चिट्ठियाँ
देखना!
धरती भी
जल्दी ही देगी
धानी जवाब।

रात

अँधेरे के भरोसे तो
नहीं छोड़ूँगा
यह रात
तलाश ही लूँगा
कोई दीपक
कोई जुगनू
और ये भी नहीं
तो कम-से-कम
कोई एक मनुष्य
जो करता होगा
रोशनी की बात
अँधेरे के भरोसे तो
नहीं छोड़ूँगा
यह रात!



दोस्त

ज़रूरी भी नहीं
कि तमाम उम्र साथ रहें दोस्त

कुछ दोस्त
ऐसे भी मिले ज़िंदगी में
कि वे मिले
जब हम बदहवास हालत में
प्रार्थना कर रहे थे

वे फ़रिश्तों की तरह आए
और फिर
ग़ायब हो गए ज़िंदगी से!

विस्थापन

कुछ चीज़ें बेहद ख़ामोशी के साथ
बेदख़ल हो जाती हैं ज़िंदगी से
कबाड़ में तब्दील होकर
गुज़रता है उनका कुछ वक़्त
घर के किसी उपेक्षित, सुनसान कोने में
फिर एक दिन
यह कोना भी ख़ाली हो जाता है
अगली किसी चीज़ के लिए।

इतवार की एक सुबह

यह एक अलग तरह की सुबह है
और सुबहों से एकदम अलग
देसी गुलाब की तरह खिली हुई
इतवार की सुबह

काँव-काँव करता हुआ एक कौआ
अभी-अभी उड़ा है किसी दरख़्त से
एक पल के लिए
मैं अपने अधिकारी के बारे में सोचता हूँ
और खिलखिलाकर हँस पड़ता हूँ
यह कल्पनाओं की सुबह है

बग़ीचे की बाउंड्रीवाल पर
दौड़ती हुई निकल जाती हैं
दो नन्हीं गिलहरियाँ...
उफ़्फ़... ! मैं तो भूल ही गया उनसे पूछना
सेतु-समुद्रम की कथा-
भूलने से याद आया

यह तो भूलने की सुबह है
एक-एक कर बुहारना है अभी
सप्ताह के बाक़ी तमाम दिन
और फिर बग़ीचे में गिरे हुए
सूखे पत्तों के साथ
उनमें आग लगानी है-
हालांकि मुझे पता है
वे फिर पैदा होंगे
अपनी ही राख से
फ़िनिक्स की तरह...

बहरहाल
फ़िलवक़्त मुझे
सिर्फ़ इस सुबह के बारे में सोचना है
जो खिली हुई है
अपराजिता की लता में
नीले रंग की तितली बनकर। ❑

***संपर्क** : विजयनगर, सेक्टर-बी, बरेठ रोड, गंज बासौदा-464221 (मध्यप्रदेश)*
मो. 9425150346

● दो कविताएँ : **शोभा सिंह**



कवयित्री और कथाकार। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित। एक कविता-संग्रह प्रकाशित। संप्रति : लेखन और पत्रकारिता।

रुक़ैया बानो

एक शहर के भीतर
कई शहर की तरह
एक साथ कई किरदारों में जीती
कई घर और कई घरों की
लाड़ली
रुक़ैया बानो
परंपरागत छवि में क़ैद औरत को
नकारती
अँधेरे में रोशनी की तरह
एक नए तेवर के साथ
हमें लंबे सपनों से
बाहर निकालती
कहती–देखो,
दुनिया की हक़ीक़त में बदलती है
रिश्ते अहसास से चलते हैं

समाज के आख़िरी सोपान पर
हाशिए की तय जगह पर
खड़ी थी मैं
अपनी खूबसूरती का दंश
बचपन से जवानी तक भोगा
ग़रीबी और खूबसूरती पर बस न था
बेची और ख़रीदी जाती रही
प्रेम बर्फ़ का ठोस गोला
जिसे चाह कर भी पिघला न सकी
बदहाल किया काली खौलती रातों ने
अंगार बरसते दिनों ने
बदलते हालात के ताने-तिशनों ने
बहुत बार हैरान-परेशान किया
भागते रहना
काम की तलाश
बच्चे थे
सिर्फ़ मेरी ज़िम्मेदारी में
उनकी बेहतरी सोचते
तरकीब लगाते
मेरी दुनिया में ढेर सारे बच्चे
कब शामिल हो गए
उनकी यातना की छटपटाहट
कब मेरी बन गई
मज़लूम औरतें
उनके वजूद में धँसे काँटे
उनसे संवाद का रिश्ता बनाना
उनकी मदद करना
संगठन की सीख
प्रयोग में उतारना
बस–जूझ जाना
स्नेह का जल
धीरे-धीरे रिसता हुआ
सूखी धरती को
फिर हरा-भरा करेगा
मुझे विश्वास था
स्वाभिमान की लौ को
ज़िंदा रखने में कामयाबी मिलेगी
यूँ कई बार पंख
परवाज़ भरते जले भी
चट्टानें टूटीं
गर्द-गुबार से
दम भी घुटा
लड़ाई जारी रही

दिनों का हिसाब रखती धरती ने
आसमान में रंग भरा
ऋतुओं में बहार
और मन में नई फ़सल की आमद का
सुख

लम्हा-लम्हा वक़्त
कहाँ-से-कहाँ पहुँच गया
एक सवाल
क्या एक आम औरत की तरह
तुम्हारा जीवन रहा
रुक़ैया बानो
वह काम जो तुम्हें
बहुत ख़ास बनाता था
वो अपने हिस्से की धूप
जिसे पसार दिया था, तुमने सबके लिए
और जब तपन बहुत बढ़ी
तुमने अपनी छाँव भी बाँट दी
दुख के हथियारों के वार झेलती
शीतल चाँदनी का सुकून
रखा अपने पास
संकट में ख़र्च करने के लिए
साँस लेना-जीना
सिर्फ़ अपने लिए नहीं
सब के बीच
बीज की तरह बँट गई तुम
खुले दिल
दिलों को जोड़ते जाना
नफ़रत की राजनीति से बहुत दूर
मज़बूती से खड़ी
रुक़ैया बानो
तुम्हें सलाम!

इंतज़ार

प्यास जब
गहराई में उतरती
धूप जब सरक कर
अंतिम दीवार पर

पुरानी संकरी गली में
पता पूछती है स्त्री
बसंत के लिबास में

गुज़र गए दिन का
बराबरी आज़ादी के
उद्घोषकों का

अधडूबी
बर्फ़ीली चट्टान-सी
तूफ़ानी लहरों में
अपने को फेंकती
फिर लौटती
यादों की झोली समेटे
सवाल पूछती
अफ़सोस के साथ
कब तक और क्यों जीए वह
धुनकी घर
धुना है अपने को
रूई का रेशा-रेशा
उसका आकाश
भर गया। ❑

संपर्क : *55-सी, पॉकेट-4, मयूर विहार, फेस-1, दिल्ली-110091, मो. 9717779268*

● कहानी

बाँसुरी

सुरेंद्र मनन



कथाकार। 'बहस' पत्रिका के पूर्व संपादक। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित। चार पुस्तकें प्रकाशित। 'इंडियन डाक्यूमेंट्री प्रोड्यूसर्स एसोसिएशन' द्वारा 'गोल्ड अवार्ड' सहित विभिन्न पुरस्कारों से सम्मानित।

वह युवा था, उत्साह और उमंग से भरपूर और बहुत महत्वाकांक्षी भी। वैसे इस उम्र में तो आमतौर पर सभी ऐसे ही होते हैं लेकिन वह थोड़ा अलग क़िस्म का इसलिए था क्योंकि संगीत से उसे बहुत प्रेम था। इतना प्रेम कि कहीं भी जा रहा हो, कुछ भी कर रहा हो, बाँसुरी हमेशा उसके हाथ में रहती। मौका मिलते ही बाँसुरी वह होठों से लगा लेता और आँखें मूँद कर उसकी सुरीली धुन में खो जाता।

बाँसुरी उसका प्रिय वाद्ययंत्र इसलिए था क्योंकि उसे लगता था कि बाँसुरी होठों से लगा कर जब वह कोई धुन निकालता है तो वह संगीत उसके अंतरतम की आवाज़ होती है। हर धुन के ज़रिए दरअसल वह अपनी अलग-अलग मनोभावनाओं को वाणी दे रहा होता है। जो शब्दों में बयान नहीं किया जा सकता उसे वह अपनी बाँसुरी की धुन से हूबहू व्यक्त कर सकता है। बाँसुरी, इन मायनों में उसकी जुबान कही जा सकती थी। इसीलिए उसे वह हमेशा अपने पास रखता- चाहे भीड़ भरी सड़क पर चल रहा हो या किसी शांत जगह पर बैठा हो, शोर-शराबा हो या सन्नाटा, अकेला हो या लोगों की बातचीत सुन रहा हो, बस में सफ़र कर रहा हो या फिर अपने ऑफ़िस में काम कर रहा हो।

ऑफ़िस की उबाऊ और नीरस दिनचर्या हालाँकि उसके कलाप्रेमी स्वभाव के बिलकुल विपरीत थी और शुरू-शुरू में उसका मन वहाँ हरदम छटपटाता, फिर भी वह वहाँ इसलिए टिका रहा क्योंकि उसके पास रोज़गार का कोई अन्य साधन नहीं था। उसे विश्वास था कि वह वक़्ती तौर पर ही यह काम कर रहा है और मौक़ा मिलते ही वहाँ से उड़नछू हो जाएगा। इसी भरोसे एक के बाद एक दिन गुज़रते गए और उसकी छटपटाहट भी शनैः शनैः कम होती गई। बाँसुरी के कारण ही उसकी ज़िंदगी मधुर और मृदु बनी रही और चौगिर्दा संगीतमय।

उसकी सहज-असहज चल रही ज़िंदगी में परिवर्तन तब आया जब उसने अपने कैरियर के अगले पड़ाव पर कदम रखा। बात ही ऐसी थी। इतनी जल्दी तरक्की मिल जाना आसान नहीं होता जबकि उसके काम के क्षेत्र में तो इतनी प्रतिस्पर्धा थी कि वह मानो युद्धक्षेत्र जैसा ही था। उसे तब एहसास हुआ जब सभी सहकर्मियों ने उसे मुबारकबाद दी। हालाँकि मन ही मन हर कोई उससे जल-भुन रहा था फिर भी सब प्रसन्नता व्यक्त कर रहे थे। यह देख कर उसे अपनी श्रेष्ठता का अहसास हुआ। मन ही मन वह बहुत खुश था।

ऑफ़िस में तो उसने किसी तरह अपने-आप को रोके रखा लेकिन घर पहुँचते ही सबसे पहले ब्रीफ़केस में से उसने बाँसुरी निकाली और बालकनी में बैठ कर अपनी प्रिय धुन बजाने लगा। आँखें बंद किए वह धुन का आनंद ले रहा था कि तभी उसे अपने हाथ पर सरसराहट-सी महसूस हुई। उसने देखा भूरे-मटमैले रंग का एक पतला-लंबा कीड़ा बल खाता हुआ उसके हाथ पर रेंग रहा था। हड़बड़ा कर तुरंत उसने हाथ झटक दिया। कीड़ा छिटक कर नीचे जा गिरा। घृणा से उसने कीड़े को देखा जो फ़र्श पर उल्टा पड़ा छटपटा रहा था। वह सोच में पड़ गया कि कीड़ा उसके हाथ पर आया कैसे? एक बार उसका मन किया कि कीड़े को वहीं मसल दे लेकिन छटपटाते हुए वह सीधा हो गया और फ़र्श पर रेंगता हुआ कोने की तरफ़ चला गया।

वह उठा और नल पर जाकर अपना हाथ रगड़-रगड़ कर अच्छी तरह से धोया। एक बार सूँघ कर भी देखा कि कहीं कीड़े की बदबू तो नहीं आ रही? फिर वह अपनी जगह पर लौट आया। बाँसुरी उसने होठों से लगाई लेकिन उसका मन कहीं और था। जाने क्यों इतनी मामूली-सी बात पर वह इतना अशांत हो उठा था। भूरे-मटमैले कीड़े की घिनौनी सूरत उसके ज़ेहन से न हट पा रही थी।

तरक़्क़ी के बाद ऑफ़िस में उसका काम अब बढ़ गया था। बाज़ार की माँग को देखते हुए कई तरह के नए प्रोजेक्ट, कई तरह के क्लाइंट, कई तरह की वार्ताएँ, मोल-तोल, लेन-देन और समझौते। बॉस का वह ख़ास आदमी बन चुका था इसलिए भी हर काम में उसकी शमूलियत रहती। इन सब व्यस्तताओं के चलते उसका बाँसुरी बजाना कम हो गया। जब भी वह बाँसुरी बजाने के लिए उठाता तभी कोई ज़रूरी फ़ोन आ जाता या किसी काम के लिए उसे तुरंत निकलना पड़ता। पहले जहाँ उसे अपने आस-पास की हर चीज़ संगीतमय लगती थी, अब लगने लगा कि हर तरफ़ शोर-शराबा उठ रहा है जिसमें वह संगीत डूबने लगा है।

एक दिन जब वह क्लाइंट्स के साथ एक महत्वपूर्ण और सफल मीटिंग के बाद अपने बॉस को इंटरकॉम पर रिपोर्ट देते हुए मंद-मंद मुस्कुरा रहा था तो उसे कान पर कुछ सरकता हुआ महसूस हुआ। उसने कान पर हाथ फेर कर मुट्ठी खोली तो भूरे-मटमैले रंग का एक वैसा ही पतला-लंबा कीड़ा उसकी हथेली पर पड़ा था। घबराहट में उसने हाथ झटक दिया। फ़र्श पर पड़े छटपटाते हुए कीड़े को देख कर उसे इतना गुस्सा आया कि उसने अपने जूते से उसे मसल दिया। कीड़ा पिचक गया और फ़र्श पर उसकी सफ़ेद-सी लार बह निकली। उसे उबकाई आने को हुई। चिल्ला कर उसने सफ़ाई करने वाले को बुलाया और खुद नल पर जाकर देर तक अपने हाथों को धोता रहा।

उस दिन घर पहुँच कर वह अपनी बाँसुरी हाथ में लिए बड़ी देर तक बालकनी में यूँ ही बैठा रहा। जैसे ही वह कोई धुन बजाने की कोशिश करता, आँखों के आगे फ़र्श पर पिचके उस घिनौने भूरे-मटमैले कीड़े का अक्स झलकने लगता। उधर से जबरन ध्यान हटा कर बाँसुरी वह फिर होंठों से लगाता, आँखें बंद करके संगीत की लय के साथ

संपर्क : *198 (दूसरा तल), संत नगर, ईस्ट ऑफ़ कैलाश, नई दिल्ली-110065*
मो. 9868146477

बहना चाहता लेकिन थोड़ी देर बाद ही बंद आँखों के परदे पर वह बिंब फिर से बनने लगता। जितनी बार भी उसने बाँसुरी बजाने की कोशिश की हर बार ऐसा ही हुआ। आख़िर वह उठ खड़ा हुआ और बाँसुरी उसने अलमारी में रख दी।

अब उसके साथ ऐसा अक्सर होने लगा। भूरे-मटमैले रंग का वैसा ही लंबा-पतला कीड़ा कभी उसकी कमीज़ के कालर पर चिपका होता, कभी कंधे पर तो कभी बाजू पर रेंग रहा होता। एक बार वह विदेश से आई टीम के साथ एक बड़ी महत्वपूर्ण मीटिंग में बैठा था। एम.ओ.यू. पर दस्तख़त करते हुए बॉस उसके काम से बहुत ख़ुश था। औपचारिक मीटिंग ख़त्म होने के बाद जब हल्की-फुल्की बातचीत चल रही थी तभी एक कीड़ा उसकी कमीज़ के अंदर घुस कर छाती पर रेंगने लगा। कमीज़ के अंदर हाथ डाल कर वह कीड़ा निकालता तो बड़ा भद्दा लगता इसलिए वह चुपचाप कीड़े का छाती पर रेंगना झेलता रहा। तभी उसे महसूस हुआ कि कीड़ा एक नहीं दो-तीन हैं। वे छाती पर, पेट पर रेंग रहे थे और एक तो नाभि में घुसने की कोशिश कर रहा था। किसी बात पर टीम के लोग हँसे तो उसने इतनी ज़ोर से ठहाका लगाया कि बाक़ी सब चौंक कर उसे देखने लगे। वह दरअसल अपने जिस्म पर कुलबुल करते कीड़ों से पैदा हो रही कसमसाहट को छिपाना चाह रहा था।

टीम के जाने के बाद उसने बॉस से अपने व्यवहार के लिए क्षमा माँगी और अपनी मजबूरी भी बताई। बॉस को इसमें कोई अनोखी बात नहीं लगी। कुछ बोलने की बजाए उसने अपनी टाई की गाँठ ढीली की और कमीज़ के बटन खोल दिए। वह यह देख कर हैरान रह गया कि बॉस के बदन पर वैसे ही भूरे-मटमैले कई कीड़े रेंग रहे थे।

"आगे से ऐसी बदतमीज़ी न हो", बॉस ने कमीज़ के बटन बंद करते हुए चेतावनी दी, "नाउ गो एंड कनसन्ट्रेट ऑन द प्रोजेक्ट!"

कुछ उलझन और सोच में डूबा हुआ वह वापस अपने केबिन की ओर चल पड़ा। एक बार रुक कर हॉल में बैठे उसने बाक़ी लोगों की ओर देखा। सब अपने-अपने काम में व्यस्त थे और बीच-बीच में गर्दन या छाती पर हाथ फेर लेते। उनमें से सबसे वरिष्ठ कर्मचारी की कमीज़ पर लहरें-सी उठ रही थीं लेकिन उससे बेख़बर वह गंभीरता से काम करने में जुटा था। उन सबको देखते हुए वह अपनी कमीज़ में से कीड़ों को निकालना भूल ही गया। जब याद आया तो उसे स्वयं अपने ऊपर बड़ी हैरानी हुई कि उसे क्या होता जा रहा है?

कुछ दिन इसी तरह कशमकश में गुज़रे। फिर वह तरह-तरह के कामों में दिन-रात इतना व्यस्त हो गया कि खुद अपनी ही होश न रही। इस बीच कई बार उसने अपने बदन पर कीड़े रेंगते देखे लेकिन परेशान होना उसने छोड़ दिया था। कीड़े को चुटकी में पकड़ कर वह परे फेंक देता और अपना काम जारी रखता बल्कि कई बार तो उन्हें झटके बिना ही लापरवाही से वह दूसरी ओर मुँह फेर लेता।

इस बीच उसके व्यवहार में सचमुच बहुत परिवर्तन आ चुका था। कंपनी की सालाना टर्नओवर में उसके महत्वपूर्ण योगदान को देखते हुए उसे हेड ऑफ़ डिपार्टमेंट बना दिया गया था लेकिन इस तरक्की से उसे वैसी ख़ुशी बिलकुल नहीं हुई जैसी कि अपनी पहली तरक्की से हुई थी। दरअसल इस पद को हासिल करने के लिए उसने अन्य प्रतिद्वंद्वियों को पछाड़ने में हर क़िस्म की जोड़-तोड़ की थी और इस कुर्सी पर अपना हक़ समझता था। यह तो उसकी दूरगामी योजनाओं को पूरा करने के रास्ते का सिर्फ़ एक पड़ाव था। अब उसकी नज़र अपने अगले निशाने पर थी। उसे भेदने की कोशिश में दिन कैसे गुज़रते गए उसे पता ही न चला।

एक सुबह जब उसकी नींद खुली तो उसने देखा कि उसके सारे बदन पर भूरे-मटमैले रंग के लंबे-पतले कीड़े रेंग रहे हैं। बिना हिले-डुले देर तक वह ऐसे ही चुपचाप लेटा रहा। कीड़े उसकी गर्दन पर, बाज़ुओं पर, टाँगों पर ऊपर-नीचे रेंग रहे थे लेकिन उनकी सरसराहट तक उसे महसूस न हो रही थी। जैसे कि वे उसके शरीर पर नहीं, मिट्टी पर चल-फिर रहे हों। उन्हें देखते-देखते उसे वह दिन याद आया जब पहली बार उसने अपने हाथ पर एक कीड़ा रेंगते देखा था। अपनी तब की हालत याद करते हुए उसने अपनी नाक छाती की ओर नीचे करके ज़ोर से दो-तीन बार सूँघा। उसकी साँस से खिंचता हुआ एक कीड़ा नाक पर चिपक गया लेकिन तब भी उसे किसी तरह की गंध महसूस न हुई। आख़िर बिस्तर से वह उठ खड़ा हुआ।

जब वह शीशे के सामने शेव बनाने के लिए खड़ा हुआ तो उसने देखा कि उसका चेहरा थुलथुल हो रहा था, ठुड्डी और गालों पर सफ़ेद बाल तिनकों की तरह चिपके थे और कनपटियों पर भी सफ़ेदी झलकने लगी थी। कीड़ा उसकी नाक पर कुंडली मारे अभी भी चिपका हुआ था। देर तक वह ऐसे ही वहाँ जड़वत् खड़ा रहा। उसे लगा शीशे में से झाँकता चेहरा उसका नहीं, किसी मसख़रे का है जो व्यंग्य से उसे देख रहा है। उसकी आँखों में विद्रूपता का जो भाव था उसकी चुभन से वह क्षुब्ध हो उठा। वह सोचने लगा कि मसख़रे का चेहरा उसकी गर्दन पर क्यों चिपका हुआ है? उसका अपना चेहरा कहाँ है?

ऑफ़िस जाने के लिए देर हो रही थी फिर भी उसने कोई जल्दी न की बल्कि नहाए बिना ही वह बाथरूम से बाहर आ गया। गुमसुम-सा वह बालकनी में आकर खड़ा हो गया। धीमी हवा चल रही थी और गुलमोहर के सुर्ख़ फूलों के गुच्छे बालकनी के पास हौले-हौले झूम रहे थे। उसे याद ही न था कि गुलमोहर के अपने प्रिय पेड़ों को आख़िरी बार उसने कब देखा था और कि उन पर फूल कब आए?

कुछ देर तक वह ऐसे ही फूलों को देखता हुआ मूर्तिवत्-सा वहाँ खड़ा रहा। तभी उसके कानों ने हरे छितराए पत्तों के झुरमुट में से फूटती कुछ आवाज़ें सुनीं, "चिकचिकचिकचीं... चिकचिकचिकचीं..." 'हुक्कू, हुक्कू, हुक्कू', 'तिर्तीर्तिर... तिर्तीर्तिर...'... उन आवाज़ों को सुनते हुए उसे लगा जैसे कोई भूली-बिसरी बात फिर से याद आ रही हो या उसके बहरे कानों ने अचानक सुनना शुरू कर दिया हो। इस विस्मित-सी हालत में 'कू... अऊ...कू... अऊ...' की जानी-पहचानी आवाज़ उसके कानों में पड़ी। वह आवाज़ कानों से होती हुई उसके भीतर तक उतरती चली गई। 'कू... अऊ...कू... अऊ...' उसके भीतर गूँजने लगी और उसका सारा बदन सिहर उठा।

सहसा उसे कुछ ख़्याल आया। वह मुड़ा और अंदर अपनी मेज़ तक जाकर उसके दराज़ों में कुछ खोजने लगा। न मिला तो शो-केस में रखी चीज़ें उलट-पलट करने लगा। फिर उसने आलमारी खोली और ऊपर-नीचे के ख़ाने देखने के बाद कपड़ों को उलट-पलट कर देखने लगा। आख़िर जब वह वहाँ से हटा तो उसके हाथ में बाँसुरी थी जिसे वह एकटक देखे जा रहा था। उसे याद आया कि यह वही बाँसुरी है जो हमेशा उसके पास रहती थी और कि जिसे होठों से लगा कर वह जब भी कोई धुन निकालता तो लगता था मानो अपने अंतरतम को वाणी दे रहा हो।

बाँसुरी लेकर वह फिर से बालकनी में लौट आया। बाँसुरी को उसने अच्छी तरह से पोंछा और दो-तीन बार फूँकें मार कर साफ़ करने के बाद उसे होठों से लगा लिया।

आँखें बंद करके जब उसने अपनी मनपसंद धुन निकालने की कोशिश की तो बड़ी बेसुरी और भोंडी-सी आवाज़ बाँसुरी में से निकली। ❑

ऐतिहासिक उपन्यासों के सम्राट वृंदावनलाल वर्मा

राकेश कुमार अग्रवाल



विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित। तीस वर्षों से लेखन एवं पत्रकारिता। संप्रति : सीबीएसई बोर्ड, नई दिल्ली से संबद्ध रामरतन भुवनेश कुमार पब्लिक स्कूल के निदेशक।

वृंदावनलाल वर्मा को ऐतिहासिक उपन्यासों का सम्राट कहा जाता है क्योंकि उन्होंने इतिहास के साथ कभी छेड़छाड़ नहीं की बल्कि इतिहास के तथ्यों को कसौटी पर रख परंपरा व कल्पना के समन्वय से जो रचनाएँ रचीं उनसे वे हिन्दी के 'वाल्टर स्कॉट' कहे जाने लगे।

वृंदावन के परदादा दीवान आनंदराव (वास्तविक नाम आनंदराय) झाँसी जनपद के मऊरानीपुर के दीवान थे और अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ बग़ावत का झंडा बुलंद किया था जो अंग्रेज़ों की गोलियों का शिकार हुए। वृंदावन के दादा कन्हैयालाल भी इस लड़ाई में शामिल थे। उस समय उनकी उम्र 15-16 वर्ष थी जिन्हें अंग्रेज़ों ने गिरफ़्तार कर जेल में डाल दिया था। क्वीन विक्टोरिया के रहमोकरम पर उन्हें चार माह बाद छोड़ दिया गया था।



9 जनवरी 1889 को वृंदावन का जन्म हुआ। वृंदावन के पिता अयोध्या प्रसाद झाँसी तहसील में रजिस्ट्रार कानूनगो थे। अयोध्या प्रसाद के दो बेटों में सबसे बड़े वृंदावन जबकि दूसरे बेटे रामनाथ उनसे लगभग चार वर्ष छोटे थे। वृंदावन की माँ का नाम सबरानी था। वृंदावन के चाचा बिहारीलाल अध्यापक थे।

पिता का तबादला झाँसी ज़िले के गरौठा तहसील में एवं चाचा का तबादला झाँसी ज़िले की ललितपुर तहसील हो गया था। ऐसे में वृंदावन की पढ़ाई का सवाल आया। अंग्रेज़ी स्कूल में पढ़ाने का फ़ैसला लिया गया। इसलिए वृंदावन को चाचा के पास ललितपुर ले जाने का निर्णय हुआ।

पढ़ने-लिखने के शौकीन चाचा बिहारीलाल ने वृंदावन को भारतेंदु हरिश्चंद्र के नाटक 'भारत दुर्दशा', 'नीलदेवी' और देवकीनंदन खत्री का 'चंद्रकांता' लाकर पढ़ने को दिया। परीक्षा में प्रथम आने पर पुरस्कार के रूप में उन्हें देश-दुनिया की चर्चित पुस्तकें पढ़ने को दी जाती थीं। 'गुलीवर्स ट्रेवल्स', 'अरेबियन नाइट्स', 'अलिफ़-लैला', 'रॉबिनसन क्रूसो' जैसी पुस्तकें उन्होंने पाँचवीं कक्षा के पहले ही पढ़ डाली थी। पढ़ने के इसी चाव ने उनमें अंग्रेज़ी सीखने की ललक पैदा कर दी थी।

***संपर्क** : ग्राम व पोस्ट कुलपहाड़, ज़िला-महोबा-210426, मो. 9415143484*

जब वह 11-12 वर्ष के रहे होंगे उनका विवाह कर दिया गया। वृंदावन जब कक्षा छह में पढ़ते थे तब उनकी कक्षा में मार्सडन द्वारा लिखा गया 'भारत का इतिहास' पढ़ाया जाता था जिसमें लिखा था कि भारत के लोग गरम मुल्क के होने के कारण ठंडे देशों के आक्रमणकारियों से हारते रहे हैं और आगे भी हारते रहेंगे। यहाँ आकर वे फिर अपने ठंडे देश को लौट जाते हैं और यहाँ के प्रवास में गरमी के मौसम में पहाड़ों पर चले जाते हैं। इंग्लैंड चले जाने पर दूसरे जवान अंग्रेज़ आ जाते हैं। इस प्रकार ये क्रम चलता रहेगा। हम शासक बने रहेंगे और हिंदुस्तानी गुलाम बने रहेंगे। वृंदावन ने जब यह पढ़ा तो उन्हें बहुत बुरा लगा वृंदावन ने किताब का पन्ना फाड़कर, पैर से रगड़कर कुचला फिर जला दिया। क्रोध से तमतमाए वृंदावन ने किताब का पृष्ठ फाड़कर अपने चाचा से कहा कि हम फिर से अपना इतिहास लिखेंगे। तब चाचा ने उनको एक थप्पड़ मारा। चाची भी वृंदावन पर नाराज़ हुईं। चाचा को उस समय 28 रुपये मासिक वेतन मिलता था जिससे मुश्किल से गुज़र-बसर होती थी।

1904 में ललितपुर में मार्च में प्लेग फैला। ललितपुर से चाचा-भतीजे मऊ गाँव चले गए लेकिन नियति को शायद कुछ और ही मंजूर था। अक्तूबर में एक बार फिर प्लेग ने ललितपुर में दस्तक दी। इस प्लेग ने वृंदावन के चाचा को चपेट में ले लिया। नवंबर में चाचा बिहारीलाल का देहांत हो गया। चाचा की मौत ने तो जैसे वज्रपात-सा कर दिया। उन दिनों चाचा 'राम वनवास' नाटक लिख रहे थे। वृंदावन ने इस नाटक को पूरा करने का संकल्प लिया। लगभग 15 वर्ष के वृंदावन को ललितपुर के बोर्डिंग हाउस में भेज दिया गया। यहीं पर वृंदावन ने एक उपन्यास 'अनूठे देवेश' लिखने का सोचा लेकिन यह उपन्यास पूरा नहीं हो सका।

वृंदावन जुलाई में वापस झाँसी आ गए। जहाँ मैकडोनाल्ड हाईस्कूल में दाख़िला ले लिया। बोर्डिंग हाउस में बंगाली और मराठी लड़कों के साथ रहकर बंगाली व मराठी समझी व सीखी। स्कूल के पुस्तकालय से शेक्सपियर व वाल्टर स्कॉट को पढ़ने का मौक़ा मिला। वाल्टर के उपन्यास 'आईबैन हो' और 'टेलिस्मैन' को पढ़ने के बाद तो

उन्होंने जैसे अपने जीवन की दिशा तय कर ली कि वह पूरी तैयारी से ऐतिहासिक उपन्यास लिखेंगे। वृंदावन ने झाँसी के मैकडोनाल्ड हाईस्कूल से शिक्षा प्राप्त की। उन्होंने संकल्प लिया कि आज से जिस बुंदेलखंड की माटी में मैं जन्मा, उसका चप्पा-चप्पा छानूँगा। प्राकृतिक सौंदर्य, जंगल, पहाड़, गली, नदी-नाले सभी से उन्हें प्रेम हो गया। तभी से उनका रचना-संसार बुंदेलखंड और इसके इर्द-गिर्द सिमट गया।

1905 की बात है। वृंदावन ने चाचा के अधूरे नाटक 'राम वनवास' को पूरा करने के बाद तीन छोटे-छोटे नाटक लिखे जिन्हें उन्होंने इंडियन प्रेस इलाहाबाद भेज दिया। इंडियन प्रेस ने न केवल उनके नाटकों को प्रकाशित करने के लिए चयनित कर लिया बल्कि उन्हें पारिश्रमिक के रूप में 50 रुपये का मनीआर्डर भी भेजा।

इसके बाद तो लेखन और अध्ययन दोनों पर उन्होंने ध्यान देना शुरू कर दिया। 1905 के दरमियान वृंदावन का ललितपुर के पनारी गाँव की सरजूबाई से रिश्ता तय हो गया। एक बार एक उर्दू लेखक के मित्र के घर दो सज्जन मिले थे। हालांकि दोनों उम्र में वृंदावन से बड़े थे। नाम था मैथिलीशरण गुप्त एवं मुंशी अजमेरी। तीनों में ऐसा सामंजस्य स्थापित हुआ जो आगे भी बना रहा।

बेकारी की दशा में वृंदावन ने ट्यूशन पढ़ाने से लेकर सब रजिस्ट्रार दफ़्तर में स्थानापन्न मोहर्रिर हो गए। लगभग सात महीने नौकरी की। एक दिन घर से दफ़्तर पैदल जाते वक़्त उनकी नज़र एक नामी वकील की गाड़ी पर पड़ी। तभी मन में बीए, एलएलबी करने का विचार आया। पिता को पता चला तो आगबबूला हो गए। उन्होंने आगे की पढ़ाई के लिए पैसा देने से इन्कार कर दिया। तब माँ ने बेटे से अकेले में कहा, "मैं दूँगी, तुम्हें ख़र्चा।"

वृंदावन संकल्प के साथ पहुँच गए ग्वालियर के विक्टोरिया कालेज। जब वृंदावन ग्वालियर में पढ़ाई कर रहे थे उसी दौरान उनके पास पिता का पत्र आया कि तुमने ब्रितानी हुकूमत के ख़िलाफ़ कुछ लिखा है। पुलिस आई थी। ज़िला मजिस्ट्रेट ने तुम्हें तलब किया है। तुरंत आओ।

वृंदावन ने एक नाटक लिखा था– 'सेनापति ऊदल'। लखनऊ के नवल किशोर प्रेस से प्रकाशित इस नाटक में लिखा था कि देशद्रोहियों को किसी भी प्रकार से समाप्त कर देने से पाप नहीं लगता।

कलेक्टर ने वृंदावन से कहा, "तुम्हारे नाटक से सरकार को आपत्ति है। नाटक की प्रतियों को सरकार ने ज़ब्त कर लिया है। सरकार ने मुझे अधिकार दिया है कि मुक़दमा चलाकर तुम्हें जेल भेजूँ।" वृंदावन को काटो तो खून नहीं क्योंकि एक तरफ़ पढ़ाई तो दूसरी तरफ़ पिता की नौकरी चले जाने का डर। लेकिन कलेक्टर ने रहम करते हुए वृंदावन को पुलिस की निगरानी में रखे जाने का आदेश दिया। वे दिन वृंदावन के लिए बहुत बुरे रहे। जब हरदम उन्हें पुलिस की निगरानी में रहना पड़ा।

वृंदावन इंटर व बीए ग्वालियर से करने के बाद 1913 में क़ानून की पढ़ाई के लिए आगरा पहुँच गए। उस समय रवींद्रनाथ टैगोर को 'गीतांजलि' के लिए नोबल पुरस्कार मिल चुका था। वे आगरा कालेज में भाषण देने आए थे। कानपुर से साप्ताहिक 'प्रताप' अख़बार निकाल रहे गणेशशंकर विद्यार्थी भी कार्यक्रम में मौजूद थे। पं. बद्रीनाथ भट्ट ने वृंदावन को विद्यार्थीजी से मिलवाया। धीरे-धीरे मित्र से आगे निकलते हुए सगे भाइयों की तरह हो गए। उन्होंने वृंदावन को न केवल 'प्रताप' का संवाददाता बनाया बल्कि नियमित स्तंभ-लेखन को कहा। गोलमालकारिणी सभा का गठन हुआ। भट्टजी गोलमालानंद के नाम से, मन्नन द्विवेदी गजपुरी गड़बड़ानंद के नाम से और वृंदावन गिटपिटानंद के छद्म नाम से 'प्रताप' के लिए बेबाक लेखन करने लगे।

1914 की बात है। एलएलबी प्रथम वर्ष का परीक्षाफल आ गया था। अगस्त का महीना था। एक दिन पिताजी का तार आया कि माँ बहुत बीमार हैं तुरंत चले आओ। वृंदावन रात में झाँसी पहुँचे लेकिन माँ का देहांत तार देने के समय ही हो चुका था। माँ को हैज़ा हुआ था। माँ दोनों छोटी बहनों की ज़िम्मेदारी वृंदावन की पत्नी को सौंपकर स्वर्ग सिधार गई थीं।

वृंदावन को शिकार खेलने का बड़ा शौक था, वे अपने ज़माने के क्षेत्र के जाने-माने शिकारी थे। चिरगाँव के पास भरतपुरा बेतवा के किनारे गाँव में दोस्तों के साथ शिकार खेलने जाते थे। शिकार खेलने के दौरान वृंदावन ने पहली बार गढ़कुंडार का क़िला देखा। गढ़कुंडार की भव्यता को देख उनके दिमाग़ में 'गढ़कुंडार' की रचना कौंधने लगी। 'गढ़कुंडार का क़िला' को भार्गव प्रेस लखनऊ ने छापा। यह 1930 के आस-पास की बात है। 'गढ़कुंडार का क़िला' छपते ही साहित्य जगत में उनका नाम हो गया। लेखकों-रचनाकारों ने इसकी सराहना की।

ऐतिहासिक तथ्यों से कभी छेड़छाड़ न करने वाले वृंदावन लिखने से पहले तथ्यों की पूरी छानबीन करते थे। गज़ेटियर की मदद लेते थे। झाँसी की रानी के संबंध में उस समय एक मिथ फ़िज़ा में चर्चा का विषय था कि झाँसी की रानी ने अंग्रेज़ों से समझौता कर लिया था। वृंदावनलाल वर्मा ने इस महत्वपूर्ण दस्तावेज़ को खोज निकाला जिसमें बानपुर के राजा मर्दनसिंह से रानी लक्ष्मीबाई ने युद्ध में सहायता माँगी थी। इसमें स्पष्ट लिखा था कि मैं स्वराज्य के लिए लड़ रही हूँ। मैं अपनी झाँसी नहीं दूँगी और स्वराज्य के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दूँगी।



वृंदावन झाँसी कचहरी में "प्रैक्टिस किया करते थे। उनके जज के पैरोकार एक मुस्लिम थे। इनके पूर्वज रानी के समय काम करते थे। उनकी अलमारी से जनरल ह्यूरोज की चिट्ठियाँ मिलीं जिसमें रानी के लिए लिखा था कि "She was braviest of them all." उन्होंने अपनी परदादी से पहले ही महारानी लक्ष्मीबाई की वीरता के क़िस्से सुन रखे थे। यहीं से उनकी कालजयी रचना 'झाँसी की रानी' का सृजन हुआ जिसने उन्हें ऐतिहासिक 'उपन्यासों' के उच्चकोटि के रचनाकारों में शुमार कर दिया।

'लक्ष्मीबाई' उपन्यास का अनुवाद मराठी, कन्नड़ और सिन्धी में हुआ। मराठी में अनुवाद यमुनाबाई शेवड़े ने किया जो महारानी लक्ष्मीबाई के भाई की पौत्री हैं। 'लक्ष्मीबाई' का अनुवाद रूसी व चैक भाषा में भी हुआ।

वृंदावन को खेती का भी शौक था। झाँसी के पास बूढ़ा गाँव में

उनका 80 एकड़ का फ़ार्म है। खेती देखना, शिकार करना एवं लेखन पर ध्यान देना उनके तीन काम थे। वे बहुत अच्छे निशानेबाज़ भी थे। शिकार के दौरान ही उन्हें विराटा गाँव का पता चला। इसी विराटा पर उन्होंने 'विराटा की पद्मिनी' का सृजन किया। 'मृगनयनी' जैसे उपन्यास की उन्होंने रचना की।

वृंदावन की ज़्यादातर रचनाएँ नारी प्रधान रही हैं। एक बार वृंदावन ललितपुर जा रहे थे। झाँसी प्लेटफ़ार्म पर एक आदमी ने एक औरत को अकेला देख उसकी इज़्ज़त पर हमला बोल दिया। उस औरत ने उसे पटककर घूँसों से मारना शुरू कर दिया। शारीरिक रूप से कमज़ोर होने के बावजूद भी औरत मानसिक रूप से दृढ़ होती है। बचपन में रानी के शौर्य व पराक्रम के सुने क़िस्से उनके अवचेतन मन में कहीं न कहीं बसे रहे।

साहित्यकारों में गणेशशंकर विद्यार्थी वृंदावन के सबसे क़रीबी थे। कवयित्री महादेवी वर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी, नीरज, रामकुमार वर्मा, मैथिलीशरण गुप्त और मुंशी अजमेरी उनके क़रीबियों में रहे हैं। कवि न होते हुए भी वृंदावनलाल वर्मा को 1950 में दिल्ली में लाल क़िले में आयोजित कवि सम्मेलन की अध्यक्षता का न्यौता मिला। उन्हें साहित्य वाचस्पति का सम्मान मिला। अमृतलाल नागर उनको बड़े भाई की तरह मानते थे। हरिवंशराय बच्चन तो उनको इतना मानते थे कि उनके पैर छूकर उन्हें सम्मान देते थे। रामकुमार वर्मा, धीरेंद्र वर्मा, धर्मवीर भारती इलाहाबाद जाने पर अपने घर पर ठहराते थे। उन्हें लेने स्टेशन जाते थे। हरिवंशराय बच्चन आग्रह करके अपने घर लाकर भोजन कराते थे। कभी-कभी वह महादेवीजी के यहाँ भी ठहरते थे। साहित्यकारों के साथ-साथ इनके साथी वकील भी इन्हें 'बड़े भैया' कहकर पुकारते थे। वियोगी हरि का उनका बहुत साथ रहा। गाँधीवादी सुशीला नैयर जो तीन बार झाँसी सांसद रहीं, वृंदावन को बड़े भाई से ज़्यादा सम्मान देती थीं। गणेशशंकर विद्यार्थी से उनका सबसे ज़्यादा पत्रों का आदान-प्रदान होता था। 14 जनवरी 1936 को वे डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का चुनाव लड़े। आत्माराम गोविन्द खेर को पराजित कर वह चेयरमैन चुने गए। अपनी कमाई से उन्होंने बेबी ऑस्टिन गाड़ी ली थी। यह वह समय था जब झाँसी में महज़ 3-4 गाड़ियाँ हुआ करती थीं एवं पेट्रोल बमुश्किल मिला करता था। वह खुद का घर का घोड़ा-ताँगा भी रखते थे लेकिन वृंदावन ज़्यादातर साइकिल से यात्रा करते थे।

1952 में वह स्वतंत्र रूप से चुनाव लड़े थे तब नेहरूजी स्वयं झाँसी से काँग्रेस प्रत्याशी आत्माराम गोविंद के चुनाव-प्रचार के लिए आए थे। मैथिलीशरण गुप्त ने काँग्रेस का साथ दिया था और वृंदावनलाल वर्मा चुनाव हार गए बल्कि उनकी ज़मानत भी ज़ब्त हो गई। मैथिलीशरण गुप्त को राज्यसभा भेज दिया गया। लालबहादुर शास्त्री जब देश के प्रधानमंत्री बने वह वृंदावनलाल वर्मा के बड़े प्रशंसक थे। शास्त्रीजी के आग्रह पर वह अपने पौत्र लक्ष्मीकांत वर्मा के साथ उनके निवास पर दिल्ली मिलने गए। शास्त्रीजी ने ही पद्मभूषण के लिए उनका नाम प्रस्तावित किया था।

रूस में 'झाँसी की रानी' एवं 1957 के 'अमरवीर' का रूसी भाषा में अनुवाद हुआ। रूस की लेखिका डायना गोल्डमैन ने इनका अनुवाद किया। सेमिनार करवाए। 1965-66 में उन्हें सोवियत लैंड नेहरू अवार्ड प्रदान किया गया। आगरा विश्वविद्यालय ने उन्हें डी.लिट की मानद उपाधि से नवाज़ा।

वृंदावनलाल वर्मा कबड्डी, क्रिकेट, कुश्ती, पहलवानी के बहुत शौकीन थे। अखाड़ेबाज़ी उन्हें बहुत पसंद थी। वे संगीत के भी बड़े शौकीन थे। हिंदुस्तान के बड़े गवैए झाँसी के उस्ताद आदिल ख़ाँ उनकी शाम की बैठक के साथी थे। संगीत की मंडली लगभग रोज़ाना शाम को लगती थी। वे सरकारी वकील भी बने। लंबे समय तक डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के चेयरमैन रहे। उन्होंने झाँसी में कोऑपरेटिव बैंक की स्थापना की जिसमें आज भी वृंदावनजी की मूर्ति स्थापित है।

गणेशशंकर विद्यार्थी के आग्रह पर वृंदावन ने 1921 में झाँसी में स्वाधीन प्रेस की स्थापना की थी जहाँ से उन्होंने 'साप्ताहिक स्वाधीन' अख़बार निकालना शुरू किया। जो 1942 में बंद हो गया लेकिन स्वाधीन प्रेस आज भी सलामत है जिसे उनकी चौथी पीढ़ी संभाल रही है। वे बार एसोसिएशन के डायरेक्टर मेंबर रहे।

23 फरवरी 1969 को हृदयाघात होने के कारण उनका निधन हो गया। रेडियो पर यह पहली ख़बर जिसने भी सुनी शोक में डूब गया। डाक्टर के मना करने के बावजूद भी वे रोज़ाना मुगदर चलाते थे। उनके निधन पर एक दिन का राजकीय शोक किया गया। झाँसी के पूरे बाज़ार, दफ़्तर, कोर्ट, कलेक्टर-कमिश्नर के आदेश पर बंद करके सभी अधिकारी व नगरवासी बड़ागाँव गेट के बाहर अंतिम संस्कार में शामिल हुए।

शासन ने क़िले के पास उनकी आदमक़द मूर्ति की स्थापना करवाई। झाँसी स्टेशन पर भी रेलवे ने उनकी प्रतिमा स्थापित की है। संग्रहालय व क़िले के निकट वृंदावन के नाम पर मुक्ताकाशी रंगमंच



बना जहाँ पर झाँसी महोत्सव व अन्य सांस्कृतिक गतिविधियाँ आयोजित की जाती हैं।

झाँसी स्थित राजकीय संग्रहालय में वृंदावनलाल वर्मा को समर्पित एक गैलरी तैयार की जा रही है। गैलरी के वास्ते उनके पौत्र/प्रपौत्र लक्ष्मीकांत वर्मा, रमाकांत वर्मा ने वृंदावनलाल की पांडुलिपियों, वस्तुएँ, सम्मान, डाक टिकट, पुरस्कार प्रदान कर दिए हैं।

साहित्यकार रामकुमार वर्मा ने उनके बारे में सच ही कहा है, "एक बीते ज़माने की याद और आने वाले युग की बानगी जैसे वर्माजी हमारे बीच में हैं।" ❑

• पुण्यतिथि पर विशेष



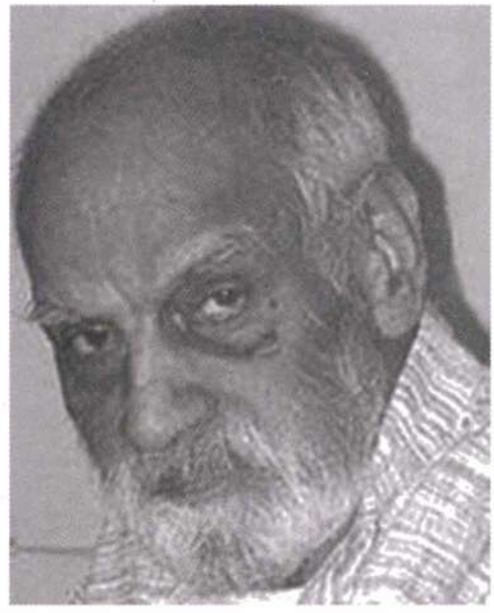
जन्म : 30 जुलाई, 1977 बाराबंकी (उ.प्र.)। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ, आलेख और साहित्यिक टिप्पणियाँ प्रकाशित। संप्रति : राष्ट्रपिता स्मारक इंटर कॉलेज, लखनऊ में सहायक अध्यापक।

त्रिलोचन

पथ के आघातों का स्वागत

आशीष सिंह

गत वर्ष प्रगतिशील काव्यधारा के महत्वपूर्ण कविद्वय त्रिलोचन और मुक्तिबोध का जन्मशताब्दी वर्ष रहा है। प्रगतिशील कविता के ये दोनों ज़रूरी कवि हैं। जनसरोकारों से लैस साहित्य जगत में पसरती संकीर्णता के ख़िलाफ़ लड़ने वाले मज़बूत सिपाही, एक ने ये काम अपनी कविता व आलोचनात्मक लेखन से जबकि दूसरे ने कविता की बनावट-बुनावट और उनमें ध्वनित समाज की ध्वनियों का 'ध्वनिग्राहक' बन दर्ज किया। हिन्दी जगत में यह तथ्य भी दर्ज होना चाहिए कि ये दोनों कवि अपने जीवन में लंबे समय तक प्रगतिशील आलोचकों के 'प्रिय कवि' नहीं बन सके। आख़िर क्यों! यह आज भी सहृदय पाठकों के बीच बातचीत का विषय है। हालाँकि यह 'क्यों' अलग से बातचीत की माँग करता है। अनुभवों की अनेकता और विचार वैविध्य के बावजूद इन सर्जकों में गहरी आत्मीयता झलकती है, जिसकी आज के आत्मकेंद्रित साहित्यिक जमात में लगभग कमी होती जा रही है। इसीलिए जनकवि त्रिलोचन की कविता पर बातचीत साझा करने से पहले इन विरल व्यक्तित्वों की कुछ 'साझा बातें' करना आवश्यक है। मुक्तिबोध जब बीमार थे, उन्हीं दिनों उनकी कविताओं का पहला संकलन 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' छप रहा था। वह भी कुछ युवा कवियों के शामिल प्रयास से जिसमें श्रीकांत वर्मा की अहम भूमिका थी जिसकी भूमिका शमशेर बहादुर सिंह ने 'जीवन जो हारा नहीं ख़त्म हो गया' शीर्षक से लिखी। मुक्तिबोध की बीमारी के दौरान ही उनकी महत्वपूर्ण आलोचनात्मक किताब 'नई कविता का आत्मसंघर्ष' के प्रूफ़ देखने से लेकर लेखों के चयन का काम उनके दूसरे प्रगतिशील कवि मित्र त्रिलोचन कर रहे थे। दुर्भाग्य से यह पुस्तक भी मुक्तिबोध के जीवित रहते अनछपी ही रही। इसमें वे नई कविता की सैद्धांतिक ज़मीन की जाँच-पड़ताल करने के साथ ही कविता में जगह बना रही नकली भावानुभूति और रुग्ण व्यक्तिवादी अभिव्यक्ति को अपनी आलोचना का विषय बनाते मिलते हैं। नई कविता के ठीक समानांतर खड़े हो रहे त्रिलोचन भी एक तरफ़ अतिसामाजिकतावादी विषय बनाम आत्मकेंद्रित कविता के कुहासे से अलग अपनी राह बनाते हैं। इस बिंदु पर त्रिलोचन-मुक्तिबोध दोनों की काव्यगत वैचारिकी का सतत संघर्ष भी साझे संघर्ष के रूप में दीख पड़ता है। इस पहलू को अक्सर अनदेखा कर दिया जाता रहा है। त्रिलोचन मुक्तिबोध को महज़ एक ज़रूरी कवि ही नहीं मानते रहे बल्कि उनकी प्रकारांतर से की जा रही उपेक्षा का डटकर विरोध भी करते रहे। 'आलोचना' के अंक 89 में वे मुक्तिबोध की कविता की महत्ता पर एक लंबा साक्षात्कार देते हैं और उन तमाम सवालों का जवाब भी देते हैं जिन्हें कुछ एक आलोचक मुक्तिबोध को प्रश्नांकित करते हुए उठा रहे थे। कालांतर में सारगर्भित भूमिका के साथ 'मुक्तिबोध की कविताएँ' चयन कर संपादित करते हैं। दोनों कवियों में आम जन के प्रति गहरे सरोकार महज़ शब्द तक नहीं बल्कि उस जीवन की अकुलाहट को पूरे ताप-तेवर के साथ प्रस्तुत करने के रूप में भी है। अपनी भाषा और भाव बोध की अलग ज़मीन होने के बावजूद दोनों कवि नई कविता की नक़ली ज़मीन की आलोचना तो कर ही रहे थे, साथ ही प्रगतिशील कविता के नाम पर महज़ राजनैतिक माँगों की काव्यात्मक अभिव्यक्ति को भी कविता के लिए स्वस्थ नहीं मान रहे थे। यह महज़ संयोग ही नहीं है कि त्रिलोचन की कविता के पहले आस्वादपरक आलोचक मुक्तिबोध ही हैं। ध्यातव्य है कि त्रिलोचन का पहला काव्य-संकलन 'धरती' सन् 45 की जनवरी में छपकर आता है। इन कविताओं का रचनाकाल सन् 35 से लेकर 43 तक सिमटा है। 'हंस' के जुलाई, 46 के अंक में 'धरती : एक समीक्षा' शीर्षक से प्रकाशित एक लंबे आलेख में मुक्तिबोध, त्रिलोचन की कविताओं को अपने समय की रोशनी में रखकर देखने-परखने की कोशिशें करते हैं। वे कहते हैं, "केदारनाथ अग्रवाल, गिरिजाकुमार माथुर, भवानी प्रसाद मिश्र आदि नए उठते हुए कवियों में त्रिलोचन का स्थान महत्वपूर्ण है, भाव की दृष्टि से और तकनीक की दृष्टि से। भवानी प्रसाद मिश्र की भावनाओं में जो



संपर्क : *ई-2/653, सेक्टर-एफ़, जानकीपुरम, लखनऊ-226021, मो. 8739015727*

भव्य औदार्य है और जो गद्य का तकनीक है, वह त्रिलोचन में भी है, परंतु अधिक सधे हुए और सँवारे हुए रूप में। शायद इस तटस्थता का कारण कवि पर निराला का प्रभाव हो।" इस प्रकार मुक्तिबोध त्रिलोचन के काव्य में मौजूद गद्य को निराला की विकासमान परंपरा से जोड़ कर त्रिलोचन की खूबी की पहचान कराते हैं। त्रिलोचन के गद्य की इसी सीफ़त को आगे चलकर आलोचकों ने उन्हें 'सुगठित वाक्यों' के कवि के रूप पहचाना।

छायावादोत्तर काल के ये सारे कवि वे चाहे मुक्तिबोध हों या त्रिलोचन छायावादी भाषा से प्रभावित रहे हैं लेकिन भावबोध के तौर पर आगे बढ़ते हुए मिलते हैं। ऐसे में निराला की कविता के परिवर्तनकारी तत्व से इन युवाओं का सहज जुड़ाव अनायास नहीं है। जिन समयों में छायावादी वायवीय भावुकता और आक्रोश की प्रगतिवादी भावभंगिमा मनुष्य के संपूर्णतम व्यक्तित्व को प्रकट कर पाने में कमज़ोर दिख रही थी ऐसे समय में मुक्तिबोध 'धरती' के कवि की आंतरिक दृढ़ता की शिनाख़्त करते हैं। वे त्रिलोचन को 'अट्टहास का आलोड़न' और 'अतृप्त वासना' से मुक्त संयमी कवि बताते हैं। मुक्तिबोध इसी बहाने प्रगतिशील काव्य धारा में पनप रही एक बड़ी ख़ामी को प्रश्नांकित भी कर रहे होते हैं। जब जीवन में डूबकर अग्रगामी विचार अपनी अनुभूति के ज़रिए हमसे मुख़ातिब होता है, ऐसी अभिव्यक्ति हमें अंदर तक संवेदित करती है। वहीं गहरे भावबोध व जीवन के अभिन्न विचार के अभाव की अभिव्यक्ति अपने को क्षणजीवी आवेग और उद्वेलन के ज़रिए प्रकट करता है। ऐसे में जन्मी खंडित कविता अपनी 'आंतरिक क्षतिपूर्ति' अतिरिक्त स्वर को आवाज़ देकर करती है जबकि त्रिलोचन ठीक इसके विपरीत गहरे सरोकार और पूरा वक़्ती कवि के रूप में हमारे सामने खड़े मिलते हैं। जिसकी जड़ें अपनी परंपरा में गहरे धंसी है, जहाँ से वह जीवन रस लेता है–

'दाउद मुहमद तुलसी कइ हम दास
केहि गिनती मँह गिनती जस भन घास।'

('अमोला' का समर्पण पृष्ठ)

तुलसी, ग़ालिब और निराला के साथ लोक जीवन से गहरा नाता जोड़े रखने वाला यह कवि अपने प्रेम को भी कर्मशील जीवन से अलग कर नहीं बल्कि उसी में डूब कर पा रहा होता है। 'धरती' कविता संकलन की कुछ पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं–

कुछ पक्षी उड़कर आते / उड़ते-उड़ते बढ़ जाते / उन कानों में भर जाते / सर्राटा या स्वर अपना / वे अथक सींचते जाते / मिलकर वे दोनों प्राणी / दे रहे खेत को पानी / जब-तब वे बातें करते / साँसों को संयत रखते / अविराम काम ही करते / पल दो पल नयन मिलाते / बल की परिभाषा करते / मिलकर वे दोनों प्रानी / दे रहे खेत में पानी।

अपनी शुरुआती कविताओं में ही वे सहजता के साथ जन-जीवन का सजीव दृश्य प्रस्तुत करते हैं। किसान जीवन के कर्मशील रूप को प्रस्तुत करते हुए वे उसकी साधारणता को बरक़रार रखते हैं। उससे उपजते विशिष्टता को हम तक संप्रेषित करते हैं। वे किन्हीं अतिरिक्त आह्वान या उद्वेलन के सहारे विशिष्ट बनाने का कतई प्रयास नहीं करते जबकि वे और साधारण रूप और भाषा में जन के बीच धंसकर उन आवाज़ों को पकड़ने, उनके साथ अपनी एकता कायम करने की कोशिश करते हैं। इसीलिए त्रिलोचन प्रगतिशील काव्यधारा के कवि-त्रयी–त्रिलोचन, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल में अलग दिखते हैं। वे अपने को समाज के जीवन को दर्ज करने वाले कवि के रूप में अपनी पहचान कराते हैं न कि आंदोलनों और ठेठ राजनैतिक मायनों में। शायद इसीलिए वे तमाम प्रगतिशीलों के लिए भी काफ़ी समय बाद ज़रूरी कवि लगे।

त्रिलोचन समाज में उठने वाली ध्वनियों को सहज ही पकड़ लेने वाले कवि हैं, न कि वादों, सिद्धांतों और ऊपरी तौर पर तथाकथित आधुनिकता के बयार में बहकर भाव विगलित होने वाले अपनी भाषा और भाव के लिए जितने 'संयत' हैं उतना ही 'नई ऐयारी' के कटु आलोचक भी। वे कहते हैं–

ध्वनिग्राहक हूँ मैं। समाज में उठने वाली / ध्वनियाँ पकड़ लिया करता हूँ। इस पर कोई / अगर चिढ़े तो उसकी बुद्धि कहाँ है खोई / कहना यही पड़ेगा। अगर न हो हरियाली / कहाँ दिखा सकता हूँ? फिर आँखों पर मेरी / चश्मा हरा नहीं है। जो इसकी तैयारी / करते हों वे करें। अगर कोठरी अँधेरी / है तो उसे अँधेरी समझाने-कहने का / मुझको है अधिकार। सिफ़ारिश से, सेवा से / गला सत्य का कभी न घोटूँगा। मेवा से / बरबूहि न कहूँगा और न चुप रहने का। / लड़ता हुआ समाज, नई आशा अभिलाषा, / नए चित्र के साथ नई देता हूँ भाषा।

सन् 1957 में प्रकाशित सानेट संग्रह 'दिगंत' का यह सानेट त्रिलोचन के काव्य प्रयोजन को साफ़-साफ़ वाक्यों में स्पष्टतः कह देता है। वे अपनी कविता में क्रियाशील समाज की उम्मीदों, आशाओं के अनुरूप ही अपनी कविता का स्थापत्य खड़ा करते हैं। अँधेरे को जानबूझकर अनदेखा कर अपने विचार को जिताते, वक्तव्य देती रचनाओं के बरक्स वे जन-जीवन के संघर्ष को तो दिखाते ही हैं, साथ ही वास्तविक यथार्थ की तसवीर भी लगातार दिखाते चलते हैं जबकि हमारे यहाँ वे चाहे प्रयोगशील कवि रहे हों या प्रगतिशील कवि, दोनों की आँखों पर 'आधुनिकता' का ऐसा चश्मा चढ़ा था, जिस रोशनी में ही वे समाज को देख-समझ रहे थे। इसीलिए त्रिलोचन उनके लिए सहज ग्राह्य नहीं लग रहे थे। क्या इसीलिए स्वनामधन्य आलोचकों ने त्रिलोचन पर लगभग चुप्पी साधे रखी!

त्रिलोचन कविता को तत्कालिक प्रतिक्रिया के रूप में नहीं, न ही प्रचारवादी दस्ते की माँगों को प्रकट करने के रूप में उसे देखते हैं। इसका मतलब यह नहीं कि वे राजनीति को दोयम मानते हैं बल्कि उसके प्रभाव की जो छाया आंतरिक तौर पर जनजीवन में परिलक्षित होती है, समाज में घटती है, जनमन की उन 'साँसों' को कविता में सुनते हैं।

त्रिलोचन धरती के कवि हैं। उनका 'जीवन जिस धरती का है, कविता भी उसकी' करने वाले कवि थे और वे अपने जन को जगाने के लिए अपने समय के तमाम अवरोधों को हटाने के लिए प्रेरित करते हैं। यह प्रेरकभाव व्यक्ति स्तर पर मौजूद आंतरिक ठहराव को धकियाता है, साथ ही उसे अपनी सामूहिक शक्ति का अहसास भी कराता है–

दीवारें दीवारें दीवारें दीवारें / चारों ओर खड़ी हैं। तुम चुपचाप खड़े हो / हाथ धरे छाती पर, मानो वहीं गड़े हो। / मुक्ति चाहते हो तो आओ धक्के मारें / और ढहा दें। उद्यम करते कभी न हारें / ऐसे-वैसे आघातों से। स्तब्ध पड़े हो / किस दुविधा में। हिचक छोड़ दो। ज़रा कड़े हो / आओ, अलगाने वाले अवरोध निवारें। / बाहर सारा विश्व खुला है, वह अगवानी / करने को तैयार खड़ा है, पर यह कारा / तुमको रोक रही है। क्या तुम रुक जाओगे। / नहीं करोगे ऊँची क्या गरदन अभिमानी। / बाँधोगे गंगोत्री में गंगा की धारा। / क्या इन दीवारों के आगे झुक जाओगे।

('उस जनपद का कवि हूँ' से)

निराला की वैयक्तिकता जिस प्रकार उनके 'मैं' के सहारे समस्त दुखी, उपेक्षित और ग़रीब-गुरबा की वाणी बन जाती है और वे 'मैंने मैं शैली अपनाई' कहते हुए अभिजात्य सौंदर्यबोध के बरक्स अनभिजात्य सौंदर्यबोध को प्राथमिकता प्रदान करते हैं। त्रिलोचन भी उसी डोर को पकड़ कर आगे बढ़ते हैं। कदाचित हिन्दी कविता में निराला के बाद 'मैं' का साहस के साथ व्यापक समाज के बीच रखकर मुक्तिबोध और फिर त्रिलोचन ने किया है। यह अलग बात है कि मुक्तिबोध का 'मैं' निम्नवर्गीय समाज के प्रतिनिधि के तौर पर बार-बार स्वयं को भी प्रश्नांकित करता मिलता है और त्रिलोचन का 'मैं' व्यापक समाज में शामिल होकर उनके सुख-दुख के भागीदार के रूप में अपने को प्रकट करता है। वे 'धरती' की सबसे पहली कविता में ही 'मैं धरती का हूँ अनुरागी' कहकर अपने 'मैं' को परिभाषित कर देते हैं। आगे चलकर उनका 'मैं' प्रेम, सहज जीवन-शैली और जन आकांक्षा के साथ अपने व्यक्ति को समाहित करते मिलता है। अपनी कमज़ोरी को स्वीकारना और उसके लिए मानवीय संसर्ग के निकट जाकर 'त्रिलोचन' का 'मैं' अकेला नहीं रह जाता बल्कि ऊर्जस्वित होता जाता है। जिस प्रकार धरती से कटकर हमारी शक्ति क्षीण हो जाती है, हम अपने को अकेला, पराजित महसूस करने लगते हैं। कवि शक्ति कहाँ से ले रहा है यह देखने की ज़रूरत है। सामने की चुनौतियों का सामना करने के लिए वह अपने अंतरतम के गुप्त द्वार का दरवाज़ा नहीं तलाशता बल्कि अंदर के सवाल को सीधे बाहर ला पटकता है और कहता है–

जब जिस छन मैं / हारा, हारा, हारा / मैंने तुम्हें पुकारा / तुम आए / मुसकाए / पूछा– / कमज़ोरी है? / बोला .....नहीं, नहीं है / किसने तुमसे कहा कि मुझको कमज़ोरी है / तुम सुन कर / मुसकाए / मुझको रहे देखते / मुझको मिला सहारा / जब जिस छन मैं / हारा, हारा, हारा / मैंने तुम्हें पुकारा।

त्रिलोचन का 'मैं' समूह निषेधी नहीं बल्कि जब भी चोट लगती है, वह लोगों में निकल जाता है और हँसता-हँसाता है। जीवन महज़ जैसे-तैसे जी लेने के लिए नहीं। इसकी महत्ता है। ये पँक्तियाँ इतनी नज़दीक से आत्मिक पुकार करती मिलती हैं मानो ये कविता नहीं हमारी सँगिनी है। अकेलेपन के ख़िलाफ़, अकेले-अकेले व्यक्तिगत मुक्ति के ख़िलाफ़ आम जन के साथ एकाकार होने का आह्वान और कैसा होगा। यहाँ 'मैं' जनसमूह कटकर अकेले रहकर अपनी व्यथा-कथा नहीं सुनाता है बल्कि नैराश्यग्रस्त जनों के समक्ष जीवन के प्रति उम्मीद जगाती मिलती है–

आज मैं अकेला हूँ / अकेले रहा नहीं जाता / जीवन मिला है यह / रतन मिला है यह / धूल में / कि / फूल में / मिला है तो / मिला है यह / मोल-तोल इसका / अकेले कहा नहीं जाता। / सुख आए दुख आए / दिन आए रात आए / फूल में / कि / धूल में / आए / जैसे / जब आए / सुख-दुख एक भी / अकेले सहा नहीं जाता।

कविता के 'मैं' का इस्तेमाल एक कवि सदैव प्रथम पुरुष में ही नहीं करता बल्कि उस 'मैं' में अधिकांशत: अन्य पुरुष ही बोल रहा होता है। जब उसका मैं विशिष्ट भाव-भंगिमा जता रहा है तब उसका व्यक्तिजगत अपने होने को प्राथमिकता दे रहा होता है। या 'मैं' किन्हीं ख़ास संदर्भों में व्यंजित हो रहा होता है। जब उसका 'मैं' साधारण सी लगने वाली बात हमसे सामान्यत: साझा कर रहा होता है तब उसकी प्रतिध्वनि हममें विशिष्ट भाव भर देती है। ख़ासकर त्रिलोचन की कविता इस मायने में देखने लायक है। अब हम 'प्रगतिशील कवियों की नई लिस्ट निकली है, उसमें त्रिलोचन का नाम नहीं है' में त्रिलोचन के आत्मकथ्य और कवि त्रिलोचन को कैसे अलगाया जाए। भीख माँगते देखा, उसी त्रिलोचन को, 'बिस्तरा है न चारपाई, है' 'कविता में क्या रखा है, गद्य-वद्य कुछ लिखा करो', 'कविता से क्या मिलता है, 'मैं' कृतज्ञ हूँ कि 'मैं किसी का प्रिय कवि नहीं हूँ' आदि तमाम पँक्तियों में हमें त्रिलोचन भी दिखते हैं और उनका रूखा-दूखा समाज लेकिन व्यक्ति त्रिलोचन से ज़्यादा कवि त्रिलोचन। जिस भंगिमा में ग़ालिब कहते हैं, 'रेख़्ते के तुम ही नहीं उस्ताद ग़ालिब/कहते हैं, ज़माने में कोई मीर भी था' या तुलसी अपने को कुटिल खल कामी भी बताते हैं और 'सकल कला सब विद्या हीनू' यह विनम्रता है या व्यंजना इसे देखने की ज़रूरत है। इसीलिए बहुत सीधी और साधारण-सी लगने वाली कविता के कवि त्रिलोचन की बात साधारण भाव लिए नहीं होती है, लेकिन हम तक आती है बड़ी साधारण तरीके से, निपट सपाट-सी लगने वाली भंगिमा लिए। त्रिलोचन की रचना-प्रक्रिया में मौजूद अंतर्विरोधों की तलाश हमें दिखाती है कि त्रिलोचन की तमाम कविताएँ स्वयं से साक्षात्कार की कविताएँ हैं लेकिन इसे आत्मकथा नहीं कहना चाहिए। क्या यह सीफ़्त उन्हें निराला से विरासत में मिली है! बिलाशक उदात्त भाव-बोध के साथ प्रगतिशील कविता को यह विरासत भी परंपरा से मिली है जिसके सच्चे क्लासिकल अनुगामियों में हमें त्रिलोचन दिखाई देते हैं। यह कवि पथ के आघातों से अपनी राह निकालता है। 'तारों की भी भाषा' पढ़ने वाला यह पाठक जनपथ की ऐसी पगडंडी का पथिक है जो 'देखा दुखी एक निज भाई' देखकर मुँह मोड़ आगे निकल नहीं जाता है।

'पथ के आघातों' से ही तलुवे के तले की मिट्टी कठोर हुई। कवि की राह बहुत सहज और आरामदायक राह नहीं रही है। यह कवि 'सफलता के चक्करदार' सीढ़ियों के सहारे आगे बढ़ने की राह के बरक्स मामूली आदमी की तरह जीवन में आई मामूली सफलताओं और तमाम असफलताओं का स्वागत भी करता है। यह उसके व्यक्तित्व की पहचान है। त्रिलोचन अपनी कविता के कभी भी आह्वान की झूठी ऊँचाई का दम नहीं भरते बल्कि साधारण जीवन में सतत घट रहे 'आघातों' से अपने मन की मिट्टी कड़ियल करते चलते हैं। यह आघात क्या हमें निराला की उन पँक्तियों की याद नहीं दिला रहे हैं जब वे कहते हैं, 'मेरा अंतर वज्र कठोर, देना, जी भरसक झकझोर'। पथ के आघातों का आभारी कवि की इन पँक्तियों में थोड़ी-सी भी दराज़ तलाशना मुश्किल है, यह ठस पन का नहीं भाव और व्यक्तित्व की सम्मिलित छवि की तस्वीर है। इस पहचान की रोशनी में ही कवि त्रिलोचन की अपनी अलग पहचान देखी जा सकती है। 'मैं' नई कविता के कई एक कवियों जैसे अपने अहम् को प्रस्थापित करता नहीं बल्कि जन सरोकारों से लैस 'मैं' के व्यक्तित्वांतरण का रूप लिए है जिसमें उसकी कविता की 'दृढ़ काया' भी रची जाती है और कवि का व्यक्तित्व भी।

तमाम आलोचक-कवि जब त्रिलोचन की कविता में मौजूद जीवन में महज़ व्यक्ति का अन्वेषण करते हुए उनकी काव्य पँक्तियों के साथ उनके जीवन की चूलें फ़िट करने की अनथक कोशिश कर रहे थे, यह अपने-आप में एक अलग बातचीत का विषय है। ऐसे को त्रिलोचन का एक ही जवाब था, "इन्हें कविता की समझ नहीं है"।

त्रिलोचन प्रगतिशील काव्यधारा के ऐसे कवि हैं जो तमाम आंदोलनों की नौका पर सवार होकर अपनी कविता को नहीं दर्ज करते बल्कि कविता में 'समाज को लेकर' आते हैं। इसमें लोगों के सुख-दुख, आत्मीयता, सामूहिक जीवन का आह्लाद और अलगाव और बेगानापन दे

रहे सामाजिक-राजनैतिक जीवन की विडंबनाओं की तसवीरें हैं। अकेले रहा नहीं जाता, चोट लगने पर अपने लोगों में जाना, उनका हो जाना और दुख का स्वागत करते हुए भी सुख के लिए 'आह' न भरना कहते हुए इस दुख के वज़न को समझा जा सकता है। इस मायने में वे एक क्लासिकल कवि हैं जिसमें तुलसी, ग़ालिब की आवाज़ तैरती मिलती है। जिसमें त्रिलोचन की कविता 'कठिन परीक्षाएँ' देकर जीवन के खाई, खंदक, नदियाँ, नाले, बन, पहाड़ जो भी आते हों, उन्हें पार करने में ही जीवन लगा रहा। इसमें हाय-हाय क्या करना–

'भाई, दुख के चक्कर में हम सभी पड़े हैं / कितना कहें और कितना न कहें, इसका तो / निश्चय कर पाना मुश्किल है, अगर हुआ तो / मौन भला है , विपत्तियों से भिड़े लड़े हैं।

त्रिलोचन की कविता में रूप वैविध्य तो है ही, साथ ही एक सधे कलाकार की तरह कथ्य को, भाव को नए-पुराने छंदों में बाँधने का भरपूर प्रयोग भी है। वह चाहे भारतेंदु, निराला की परंपरा को आगे बढ़ाते हिन्दी ग़ज़ल का प्रयोग हो या बरवै छंद में अपनी घर की बानी अवधी में 'अमोला' का सृजन हो या विदेशी छंद सानेट में भारतीय छंद रोला के फ़्यूज़न का मामला हो, हर जगह त्रिलोचन एक सधे, सिद्ध हस्त कलाकार के रूप में ही दिखते हैं। इसी सजगता के बीच उनकी कुछ सीमाएँ भी नज़र आती हैं, यह भी देखने की ज़रूरत है। सिद्धांतत: त्रिलोचन विषय-काल अनुसार भाषा के चयन को उचित मानते हैं। फिर भी उनमें ज्योत्सना, व्योम, राका, शारदा, स्मिति, चाँदनी का खेलना, दीप आदि शब्दों से छायावादी भाषा की खुरचन का बचे रहना ही दर्शाता है। साथ ही विचारों की बौद्धिक अनुगूंजों और मानवीय जीवन में आए बदलावों के साथ बदली भाषा अपनी देशजता और उत्कृष्टता के बावजूद अक्सर बंधी-बंधी मिलती है। भाषा का ममत्व और 'न बदलने को तैयार' यह 'साधारण भारतीय' कवि ग्रामीण सामूहिकता और किसानी जीवन की रागात्मकता पर लहालोट है। शहराती जीवन, पूँजी केंद्रित समाज की आलोचना वह किसान ज़मीन पर खड़ा पर होकर करता मिलता है जबकि ग्रामीण जीवन में पसरी जनविरोधी सामंती मानसिकता, रुग्ण विचार को प्रश्नांकित करने की बजाय सामूहिक श्रम सौंदर्य के वर्णन में डूबते-डूबते 'कोल्हू' पर गुड़ की भेली खाने, पौनी परजा में बंटने-बंटवाने और गन्ने के रस प्रसंग में आबद्ध नज़र आता है। यह समझ किसानी रागात्मकता में ही लहालोट होने की प्रतिध्वनि ही है। यह किसी भी प्रकार से आगे तो नहीं ले जा रही है। वह 'चंपा' की मासूमियत भरे भाव की परिणति 'कलकत्ते पर बजर गिरे' का अभिशाप हो या ईख कटने पर ईख का त्योहार मनाते क्षण में-

'कोल्हू के नीचे / जब हौदी भर गई / तो रस के लिए / परजा पावनिए आए / और अपना-अपना अंश / लेकर गए। / मंगन भी आए / और उन्हें ईख दी गई / यह घर का / ईख के नाम पर / पहला त्योहार था। ('ईख पकने पर' संग्रह से)

तीन खंडों में लिखी इस कविता में न तो किसी प्रकार की गति दिखती है और न ही सामाजिक अंतर्विरोध की सक्रिय छवि, सिवाय एक सामुदायिक जीवन और क्रियाव्यापार के दृश्य वर्णन के जिसमें ईख कटने, बांधने, कोल्हाड़े तक आने और पौनी परजा में बँटने के साथ ईख का पहला त्योहार संपन्न हो जाता है। दरअसल सामुदायिक लय तत्काल मीठी राहत देते हुए हमें भुलावा-सी देती है, जबकि सामूहिक लय हमें महज़ जीवंतता ही नहीं प्रदान करती बल्कि भविष्योन्मुखी भी बनाती है। क्या मैं ग़लत हूँ!

ज्यों-ज्यों पूँजी का एकछत्र राज गाँव-देहात की ज़िंदगी में पैठता जा रहा है त्यों-त्यों क्या उस बोली बानी में परिवर्तन नहीं होता जा रहा है। ग्रामीण जीवन में यह परिवर्तन महज़ सूचना संचार के ज़रिए आ रहे बदलाव की वजहों से ही नहीं बल्कि उत्पादन संबंधों और उत्पादक शक्तियों में आ रहे बदलाव का नतीजा भी है। अब हल, बैल की जगह ट्रैक्टर ने ले ली है तब हर, जोंठ, पैना, फल, मूठ, नांद, मुसक्का जैसे दैनंदिन व्यवहार में आ रहे वस्तु व्यंजक शब्द गुज़र ही जाने हैं। दूसरी तरफ़ हमारी पढ़ाई-लिखाई जिस खड़ी बोली में होती है वह मध्यवर्गीय मानस की ओर उन्मुख है। फ़िलहाल यह हमें नौकरी-चाकरी और ज्ञान संपदा से परिचित होने के लिए ज़्यादा व्यापक दायरे तक हमें ले चलती है। मसलन गाँव से शहर आया हुआ बेरोज़गार नौजवान के रोज़गार की भाषा हिन्दी ही होगी, उसे हिन्दी में रोटी मिल पाएगी बावजूद इसके वह अपने घर-परिवार व समूह में अपने घर की बोली में ही बोल रहा हो तब भी उसका खांटीपना ग़ायब होता जाता है। यह हमारी चाहना के बावजूद उलट नहीं सकता।

और आज जब ठेठ घर की बोली में हम कोई रचना करते हैं तो एक तरफ़ वह छूट रही बोली के प्रति ममता ही होती है। दूसरी तरफ़ सृजनात्मक कर्म में लगे रचनाकारों का परिवेश और जीवनशैली मध्यवर्गीय ही है और अधिकांशत: उनके संबोधन के दायरे में मध्यवर्गीय-निम्नमध्यवर्गीय आबादी ही होती है। ग़रीब-गुरबा, किसान-मजदूर की ओर से बोलते लेखक, उन लोगों के समर्थन में बोलते-लिखते भले हों लेकिन कभी भी उनकी घर की भाषा में नहीं लिख पाते और न लिखते हैं। घर की बोली को दिनोदिन बाज़ार ग्रहण कर अपने को समृद्ध करे यह उसकी आवश्यकता पर तय करता है। जब तक इस तरह का वर्गीय बंटवारा है कि एक आबादी को बाजार की भाषा, नागर भाषा रोटी के लिए सीखनी पड़ती है। बाजार की नियामक ताकतों व उच्चवर्गीय उपभोक्तागण जिनका सामाजिक उत्पादन में महज़ प्रबंधन और नियंत्रण करने का काम ही प्रमुख है, वे भी जब अपने को कुछ विशेष दिखाना होता है तब वे भी भदेसपने के रूप में कुछ शब्द और वस्तुओं की मौजूदगी महज़ दिखावटीपन के ज़रिए पूरा करते हैं।

ऐसे में कोई कवि जब कोल्हू का रस, भेली, बैलों की गले की घंटी आदि से रस ले रहा है तो वह महज़ 'रस' ही ले रहा है। उसी रस का विरूपित रूप या आंतरिक ख़ालीपने की भरपाई शहरों के किर्तनियाँ मंडल, जागरण पार्टियाँ हैं जो पूंजी की चकाचौंध का एक जड़ प्रदर्शन भी है और छद्म सामूहिकता बोध भी। बस ठहरे रुग्ण-विकलांग मानस को जिसे पूँजी की ताक़त ने अंदर से आत्मिक संपदा से रिक्त कर दिया जो यहाँ-वहाँ ऐसे-वैसे अपने होने को तलाशता फिरता है। इस अलगाव को भेदती हुई आंतरिक आकांक्षा की जो रचना सामने आएगी वही सच्ची आवाज़ बनेगी। कुलजमा यही कहना है कि हम गंवई रागात्मकता की ज़मीन पर खड़े होकर शहराती जीवन में जनमे अलगाव, बेगानापन और आत्मकेंद्रीयता का मुक़ाबला कतई नहीं कर सकते हैं। ऐसी भली-भली लगती स्मृति बिखर चुकी या उखड़ चुके सामाजिक संबंधों की लाख याददिहानी कराए या उसी में ऊभ-चूभकर दृश्य वर्णन में कवि मुब्तिला हो जाए, अंतत: वह किसी कवि/कविता की दार्शनिक चूक या कमज़ोरी ही कही जाएगी।

इसलिए जनकवि त्रिलोचन का स्मरण संघर्षशील जनपक्षधर काव्य परंपरा का स्मरण है जिसमें आम जन की आशा-आकांक्षाएँ ही नहीं जीवन भी धड़कता है। ❑

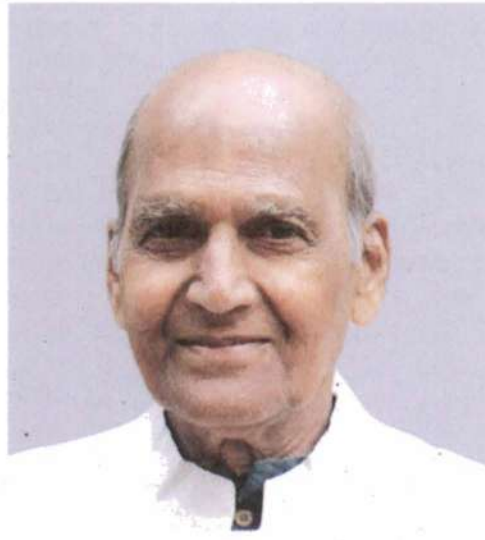
स्वयं प्रकाश की कहानियाँ

गौरव भारती



शोधार्थी, भारतीय भाषा केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ और आलेख प्रकाशित।

स्वयं प्रकाश एक प्रबुद्ध रचनाकार के तौर पर उभरते हैं। उन्होंने अपनी कहानियों के माध्यम से समाज के प्रति अपनी पक्षधरता को साबित किया है। समस्याएँ चाहे मध्यवर्ग से संबंधित हों या फिर राजनीति के संकट से, उन्होंने एक रचनाकार होने के नाते अपनी जवाबदेही को समझा है। ग़ौरतलब है कि सत्ता की लोलुपता ने राजनैतिक पार्टियों को, राजनीति को निम्न स्तर पर पहुँचा दिया, जो आज भी अनवरत जारी है। अस्सी के दशक से ही सांप्रदायिक ध्रुवीकरण को राजनीति में एक हथियार की तरह इस्तेमाल किया गया। इसका ख़ामियाज़ा न केवल किसी एक ख़ास संप्रदाय को भुगतना पड़ा बल्कि यह कहना ज़्यादा मुनासिब होगा कि इसने भारतीय गंगा-जमुनी तहज़ीब को बहुत क्षति पहुँचाई। इस तरह का सांप्रदायिक ध्रुवीकरण न केवल समाज को बाँटता है बल्कि उससे एक ऐसी संस्कृति का निर्माण हुआ है जिसमें मनुष्य को मनुष्य संदेह की दृष्टि देखने लगा है। इसने न केवल दो धर्मों में वैमनस्य पैदा किया है बल्कि रंगों को भी विभाजित कर दिया है। अस्सी के बाद सांप्रदायिक दंगों में जिस तरह से बढ़ोतरी हुई है वह हमारे समाज को कठघरे में ला खड़ा करती है। प्रश्न उठता है कि क्या हम बौद्धिक रूप से इतने अपाहिज हो गए हैं कि धर्मांधता के शिकार हो जाते हैं? हम धर्मांधता में खुद को मध्यकाल में रखकर सोचने लगते हैं। कहना न होगा कि इस धर्मांधता का सबसे ज़्यादा शिकार मध्यवर्ग और निम्न वर्ग ही हुआ है। यहाँ भीष्म साहनी का उपन्यास 'तमस' बरबस याद आ जाता है और उसका पात्र नत्थू भी, उसका द्वंद्व, उसका रुदन बहुत ही मार्मिक है क्योंकि वह सांप्रदायिक ताक़तों के हाथों इस्तेमाल हुआ है। प्रश्न है कि इसके लिए कौन ज़िम्मेदार है? क्या सिर्फ़ राजनैतिक पार्टियाँ? हकीक़त यह है कि हम भी उतने ही ज़िम्मेदार हैं जो खुद का इस्तेमाल हो जाने से खुद को भी नहीं रोक पाते। वे लोग भी उतने ही ज़िम्मेदार हैं जो तटस्थता का लिबास ओढ़कर मूक दर्शक मात्र बने रह जाते हैं। इसी तटस्थता के ख़िलाफ़ स्वयं प्रकाश एक कहानी लिखते हैं 'क्या तुमने कोई सरदार भिखारी देखा?'। इस कहानी को भीष्म साहनी के 'अमृतसर आ गया', अरुण प्रकाश के 'भैया एक्सप्रेस' जैसी कहानियों के बरक्स रखकर भी देखा जा सकता है जिसमें सांप्रदायिक उन्माद को लक्ष्य किया गया है। ट्रेन में यात्रा कर रहे एक बुजुर्ग सरदार को उन्मादी भीड़ लूटती है, पीटती है लेकिन तथाकथित शरीफ़ जनता तमाशा देखती रह जाती है। बिल्कुल उसी तरह जैसे रघुवीर सहाय की कविता 'रामदास' में रामदास के क़त्ल पर तमाशाई भीड़ तटस्थ और मूक हो मानवीयता को चिढ़ाती रह जाती है। स्वयं प्रकाश ने इस कहानी में सत्ता की लोलुपता से संचालित षड्यंत्र को तो दिखाया ही है उससे भी महत्त्वपूर्ण है मध्यवर्ग की तटस्थता को लेकर उनका सवाल। स्वयं प्रकाश लिखते हैं, "अब डिब्बे के और मुसाफ़िर उन्हें देखने आ रहे थे। आख़िर क्यों न आते ? इतने आदमियों के बीच बीसियों आदमियों द्वारा पीटा गया एक अकेला बूढ़ा कमज़ोर आदमी क्या कम रोमांचक दृश्य होता है!"



इस कहानी पर विश्वनाथ त्रिपाठी की टिप्पणी है, "जिस निम्न और निम्न मध्यवर्ग को सर्वहारा बनना था वे सांप्रदायिक, प्रतिक्रियावादी या लुंपेन बन गए थे। इस देश में शोषकों की ऐसी निर्मम हत्याएँ, ऐसा अग्निदहन कभी नहीं हुआ जैसा अल्पसंख्यकों का हुआ और यह सब शोषकों, पूंजीवादियों, साम्राज्यवादियों ने नहीं किया। संभावित सर्वहारा, निम्नवर्ग, निम्न मध्यवर्ग ने किया।"

ग़ौरतलब है कि, "सांप्रदायिकता के कारण भारत की सामाजिक और आर्थिक दशा पर प्रतिकूल असर पड़ा है। भारत की अर्थव्यवस्था को जिस रफ़्तार से पनपना चाहिए था वह पनपी नहीं और इससे बेरोज़गारी और असमानता बढ़ी। नतीजा सामाजिक हताशा और बेचैनी में निकला। इससे हुआ यह कि आर्थिक अवसरों और साधनों के लिए अंधी दौड़ मच गई। चमक-दमक और साधनों का शौकीन मध्यवर्ग तो इस भटकाव में फँसा ही, शिक्षा और ख़ास तौर पर उच्च शिक्षा के व्यापक विस्तार के साथ दुर्लभ नौकरियों की जो अंतहीन प्रतियोगिता शुरू हुई, उसने एक नया नाराज़ युवा वर्ग तैयार किया है। यह वर्ग सांप्रदायिक ताक़तों के काम आ रहा है।" मध्यवर्गीय बौद्धिक वर्ग की कायरता, तटस्थता और सांप्रदायिक ताक़तों के साथ हिस्सेदारी सामाजिक सौहार्द्र को बहुत क्षति पहुँचाती है। 'पार्टीशन' कहानी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो

संपर्क : *कमरा संख्या-108, झेलम छात्रावास, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110067, मो. 9015326408*

पृष्ठ 33 पर जारी..

एक परिपूर्ण कला जीवन

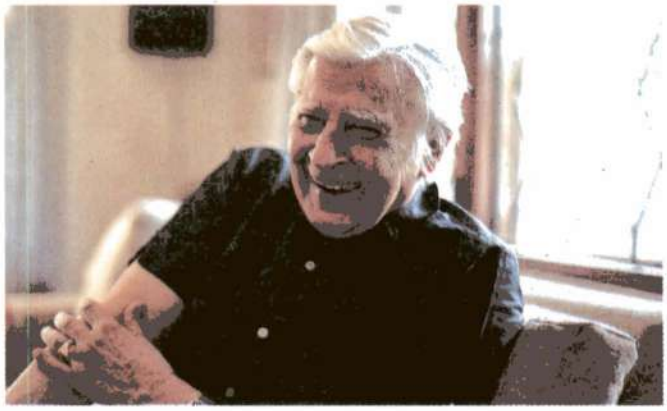
रणजीत साहा



भारतीय भाषा केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर रहे। विश्वभारती, शांतिनिकेतन से पी-एच.डी. तथा तुलनात्मक साहित्य एवं ललित कला अधिकाय में उपाधियाँ प्राप्त। दो दशक तक साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली के उपसचिव रहे। लगभग तीन दर्जन पुस्तकें प्रकाशित।

कृशन खन्ना का जन्म 1925 में लायलपुर (पंजाब) में हुआ। उनकी स्कूली पढ़ाई एक क्रिश्चियन स्कूल सेक्रेड हार्ट एंड कैथेड्रल स्कूल में हुई। पिता कहानचंद्र खन्ना अध्यापक थे और वे अपनी डॉक्टरेट की उपाधि के लिए इंग्लैंड गए थे। वापस लौटे तो वे लियानार्दो द विंची द्वारा चित्रित 'द लास्ट सपर' और उनके व्यक्तिचित्र की अनुप्रति भी घर ले आए। इन चित्रों ने कृशन पर गहरा प्रभाव डाला। कृशन ने उनकी नक़ल भी उतारी। बात स्कूली कक्षा में ड्राइंग वग़ैरह बनाने तक ही सीमित रही लेकिन 1938 में रूडयार्ड किपलिंग की स्कॉलरशिप पाकर जब कृशन को विंडसर (लंदन) स्थित इम्पीरियल सर्विस कॉलेज में प्रवेश मिल गया तो उन्होंने वहाँ कला का विधिवत् अध्ययन किया और ऑक्सफ़ोर्ड तथा कैम्ब्रिज स्कूल ऑफ़ सर्टिफ़िकेट के अंतर्गत अन्य विषयों के अलावा कला में भी अपना पाठ्यक्रम पूरा किया। वहाँ से लौटकर कुछ दिनों तक लाहौर के मेयो स्कूल ऑफ़ आर्ट कक्षा में भी पढ़ाई की। तब तक देश में आज़ादी और देश विभाजन की लहर शुरू हो गई थी।

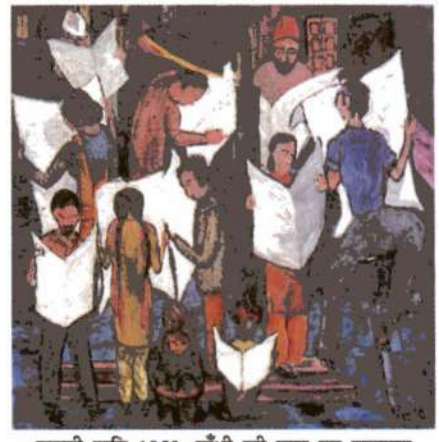
आज़ादी के संघर्ष भरे वर्षों में खन्ना ही नहीं, लाखों युवक अपनी कार्य दिशा तय नहीं कर पा रहे थे। खन्ना इस मामले में क़िस्मत वाले थे कि उन्हें कपूर आर्ट्स वर्क, लाहौर में छपाई का काम मिल गया और चित्रांकन के साथ उन्हें छापाकला की प्रविधि की जानकारी प्राप्त हो गई लेकिन भारत विभाजन के साथ ही, लाहौर आकर बसे उनके पूरे परिवार को भारत में शरणार्थी बनकर शिमला आना पड़ा। यहाँ उन्होंने



रंग-ब्रश उठाकर कुछ सैरा (भू-दृश्य) भी बनाए। क़िस्मत ने कृशन खन्ना का फिर साथ दिया और उन्हें 1948 में बंबई के ग्रिंडलेज़ बैंक में नौकरी मिल गई।

संपर्क : एमजी 1/26, विकासपुरी, नई दिल्ली-110018, मो. 09811262257

यहाँ से कृशन खन्ना के जीवन की एक नई यात्रा शुरू हुई, क्योंकि एस. बी. पलसिकर की सहायता से वे अपने रंग और कैनवास की दुनिया में लौट आए। बाद में, प्रगतिशील कलाकार संघ (पैड) में एम. एफ़. हुसैन के आग्रह पर उन्हें इसकी सदस्यता मिली। अपनी अंतरंग मित्रता को सुरक्षित रखने के लिए कृशन ने हुसैन की एक शबीह (तैलरंग, 1954) भी बनाई थी। इसी क्रम में बंबई आर्ट सोसाइटी की स्वर्ण कला प्रदर्शनी में उनकी कृति 'गाँधी की मृत्यु का समाचार' (1950) की बड़ी सराहना हुई थी। टाइम्स ऑफ़ इंडिया के कला समीक्षक रूडी वॉन लाइडन ने केवल इस चित्र की ही नहीं, कृशन की निजी शैली की भी प्रशंसा की थी।



उनकी कृति 1950–गाँधी की मृत्यु का समाचार

1952-53 में मद्रास कालेज ऑफ़ आर्ट में प्रोग्रेसिव कलाकारों के साथ कृशन के भी चित्र प्रदर्शित हुए थे। 1955 में उन्होंने अपनी पत्नी रेणु चटर्जी के साथ यूरोप की यात्रा की और रोम, पेरिस, असीसी, लंदन आदि शहरों की आर्ट गैलरियों का परिदर्शन किया। अगले ही वर्ष ललित कला अकादेमी, नई दिल्ली द्वारा उनका चित्र पुरस्कृत हुआ, जिससे उनका आत्मविश्वास बढ़ा। कृशन ने अपने जीवन के हर उतार-चढ़ाव को एक अवसर के तौर पर स्वीकार किया। 1953 में जब उनका तबादला मद्रास हो गया तो उन्होंने सुप्रसिद्ध संगीतविद् सी. नारायण मेनन के सहयोग से कर्णाटक संगीत, वाद्य और यंत्रों की जानकारी प्राप्त की। इससे संगीत के प्रति न केवल उनकी रुचि बढ़ी बल्कि उन्होंने वाद्य संगीत से जुड़े कई चित्र और रेखांकन बनाए। 'तबला', 'बाँसुरी' (1955) और 'वीणा वादकों' (1955-56) के चित्रों को देखकर यह स्पष्ट हो जाता कि वादकों के साथ कृशन भी उनकी तन्मयता में डूब गए हैं। 'त्रयी' (Trio, 1957) में सितार, तबला और सारंगी की संगत करते वादक-- इस शृंखला का बेजोड़ चित्र है।

1961 में बैंक की नौकरी छोड़ने और एक चित्रकार के तौर पर ही कार्य जीवन शुरू करने की इच्छा से कृशन 1964 में दिल्ली आ गए। विभिन्न देशों की यात्रा विशेषकर जापान की यात्रा के बाद उनके कार्य की दिशा और प्रविधि तो बदल गई लेकिन सरोकार नहीं बदले।



एक ओर नए विषयों की तलाश उन्हें अतीत की ओर ले गई तो दूसरी ओर नई वैश्विक घटनाओं की ओर। 'Rear View' (पिछाड़ी दृश्य) चित्र शृंखला में सत्तर और अस्सी के दशक में दिल्ली में निर्माण में लगे श्रमिकों और मेहनतकशों की भूमिका को बहुत नज़दीक से देख रहे कृशन ने सड़कों और ट्रकों के नीचे सोए उन अनाम और नामालूम लोगों की तस्वीरें भी उकेरी हैं, जिनकी कोई पहचान नहीं, चेहरा नहीं। वे पता नहीं, किन ठिकानों की तलाश में रहते हैं या बेठिकाने कहाँ लौट जाते हैं। 'द डेड एंड द डाइंग' चित्र (1970) में एक टेबल पर रखी लाश के नीचे ऐसे ही कुछ लोग ताश खेल रहे हैं तो कहीं लाश की चीर-फाड़ चल रही है।

अस्सी का दशक कृशन के लिए अत्यंत व्यस्त और बहुविध विषयों को कैनवास पर उतारने की बेचैनी से रंगमुखर रहा है। तभी 'पहली शल्यचिकित्सा' (The First Operation, 1970, तैल चित्र) *चरक संहिता* में उल्लेखित विवरण के आधार पर रची गई है। इसमें यह बताया गया है कि भारत में अस्त्रोपचार कर रोगी की टूटी हड्डी निकालकर वहाँ लोहे की छड़ प्रतिरोपित की जाने की क्षमता अर्जित कर ली गई थी। इस चित्र में, कृशन ने चित्रात्मक सतह पर होनेवाली समस्त गतिविधि को पूरी तन्मयता से उकेरा है। चारों चिकित्सक अस्त्रोपचार में निमग्न हैं। हल्के और गाढ़े भूरे रंग के साथ, सफ़ेद और धूसर रंग का प्रयोग आवेगपूर्ण तूलिकाघातों द्वारा इस तरह किया गया है कि रोगी समेत उन चारों के तनावपूर्ण चेहरे पर अंकित भावावेगों की तीव्रता महसूस की जा सकती है। इस रंग-सघन चित्र में 'स्पेस' का कुशल रचाव देखते ही बनता है।

'रामू' और 'ज्ञानीजी का ढाबा', 'शराबी कवि', 'ट्रक के नीचे सोए मजूर', 'घोर नींद में सोए लोग' के साथ 1975 में 'वर्ल्डवाइल्ड लाइफ़ फ़ंड' (W.W.F) के लिए भव्य 'मोज़ाइक प्लेटफ़ार्म' का निर्माण और ईसा मसीह के जीवन से संबंधित कई चित्रों का अंकन कार्य इसी दौर में संपन्न हुआ। इनमें 'इम्मास', 'बिट्रेयल', 'गेथसेमाने', 'द इंट्रोडक्शन', 'डिसेंट फ़्राम द क्रॉस' जैसे चित्रों में से कुछ तो कृशन खन्ना की पहचान से अभिन्न रूप से जुड़ गए हैं।

चे ग्वेवेरा (क्यूबा के जननायक) के निधन (1969) पर उन्होंने उनके कई चित्र बनाए, जिनमें उनकी मृतदेह से जुड़ा एक चित्र काफ़ी चर्चित हुआ। इसी तरह बांग्लादेश के मुक्ति संघर्ष (1971) पर आधृत 'खेल' (Game) आदि चित्रों में मृत सैनिकों के कंकालों के ऊपर, कुर्सी पर बैठे जनरल बहस में जुटे हुए हैं। इसी तरह 'समाप्ति' (The End, 1972) में पट्टियों से लिपटी एक देह कुर्सी से बँधी दिखाई गई है, जो सत्तासीन क्रूरता का उदाहरण है। आपात्काल के दौरान भी कृशन ने कई कलाकारों और संस्कृति-कर्मियों की तरह तत्कालीन शासक और सत्ता के प्रति अपना प्रतिरोध सांकेतिक चित्रों द्वारा अभिव्यक्त किया था।

1980-83 के दौरान कृशन खन्ना ने 'द ग्रेट प्रोसेशन' शीर्षक से मौर्या शेरेटन होटल, नई दिल्ली में एक विशाल कार्य योजना से अपने सृजन पर्व को सफल और सार्थक किया। इसके अंतर्गत उन्होंने भित्ति चित्रों का एक अनोखा रचना-संसार संयोजित किया, जो उनकी आँखों के सामने और उनकी स्मृतियों में बसा-रचा था। यहाँ बाबू वर्ग के साथ श्रमिक वर्ग, जिसमें मोची, हज्जाम, किसान, मज़दूर, किरानी, अधिकारी, पंडित, मौलवी सभी शामिल हैं। उन्होंने पशु-पक्षी जगत से भी तोते, मोर, बगुले, कौए, बंदर, कुत्ते, बकरी, बिल्ली आदि प्राणियों को भी इस गुम्बदी इमारत के भीतरी भागों- छज्जे, कॉर्निश, मेहराबों में इस तरह संजोया कि वे तमाम पात्र एक मंच पर उपस्थित हो गए हैं। यहाँ शिवलिंग के साथ घंटा बजाते, शंख फूँकते पंडित, करतब दिखाते बाज़ागीरों के साथ साधू बाबा और रेस्त्रां की गतिविधियाँ भी शामिल हैं। एक खंड (पैनल) में खुशवंत सिंह कारसेवा में जुटे हैं तो मुल्कराज आनंद प्रो. मुजीब के साथ रेस्त्रां में खाना खा रहे हैं। इक़बाल मलिक चाय की केतली उठाए हैं और खुद कृशन खन्ना दर्शकों की ओर पीठ किए बैठे हैं। इस संयोजन का प्रभाव तब देखते ही बनता है जब रंगीन शीशे मढ़े ऊँचे और तिकोने रोशनदानों से जो बाहरी प्रकाश छनकर अंदर आता है तब इन तमाम चित्रों के रंग पारभासी हो उठते हैं और इनमें अंकित इमारतों, सड़कों, गलियारों के साथ तमाम पात्र एवं परिवेश जीवंत प्रतीत होते हैं।

कृशन, जैसी कि उनके चित्रण की विशेषता रही, वे रंगों और रेखाओं का अनावश्यक प्रयोग नहीं करते लेकिन बावजूद इसके उनके पात्रों की देहभाषा पूरी तरह अभिव्यक्त हो जाती है। इस मामले में वे सदैव मितव्ययी रहे हैं। 'लेखक' (Scribe) शृंखला हो या महाभारत शृंखला (1991), कृशन के चित्र भावोद्रेक उत्पन्न करने के साथ अपनी रंगत में भी अत्यंत प्रभावी होते हैं *महाभारत* में उल्लेखित राजाओं के अहंकार और झूठी महत्त्वाकांक्षा तथा कुरुक्षेत्र युद्ध द्वारा उन्होंने रिक्तता और निरर्थकता के साथ त्याग संबंधी पर्वों पर ध्यान केंद्रित किया--जहाँ तीरों से बिंधे भीष्म शरशय्या पर लेटे, युद्ध के दसवें दिन अपनी मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे हैं। धृतराष्ट्र और गांधारी अपना राज्य गवाँ चुके हैं। हर किसी ने अपना प्रियजन खोया है। उपदेश देते कृष्ण की उपस्थिति में अप्रतिम धनुर्धर अर्जुन की युद्ध की निरर्थकता के क्षण झेल रहा है। इस रिक्तता को कृशन की यह शृंखला अत्यंत मार्मिक और दर्शनीय बना देती है।

कृशन की स्मृति में अपने आसपास की दुनिया की त्रासदी--चाहे वह भूख हो, ग़रीबी हो, विभाजन की त्रासदी हो, मानवीय मूल्यों का क्षरण हो--उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि चित्रों में विन्यस्त अमूर्तन से संभवत: कोई कलाकार अपने दर्शक समाज से संवाद नहीं कर सकता। इसके लिए किसी-न-किसी कथ्य का आधार आवश्यक है जो जनमानस की स्मृति में भी सुरक्षित हो। उनकी यही सृजनेच्छा उन्हें ईसा की करुणा, पीड़ा और संदेश के निकट ले आई। विदेश भ्रमण के दौरान भी वे विभिन्न कैथेड्रलों, चर्चों और गैलरियों में ईसा से संबद्ध असंख्य चित्र देख चुके थे। लंदन-प्रवास के दौरान उन्होंने *न्यू टेस्टामेंट* और ईसाई संतों-विशेषकर सेंट फ्रांसिस के जीवन और संदेशों में गहरी रुचि ली थी। इसी का परिणाम था, उनके द्वारा 1988-90 में अंकित 'लास्ट सपर', 'पिएटा' (Pieta) और 'इम्मास' आदि ईसा मसीह से संबंधित कई चित्र उनकी सर्वोत्तम निर्मितियों में गिने जाते हैं।

'लास्ट सपर' में ईसा अपने कुछ अनुयायियों और साथियों के साथ खाते दिखाए गए हैं। इसका अगला खंड 'पिएटा' है जो अपने आकारिक संयोजन, रंगायन और प्रभाव में इतना विलक्षण है कि कोई दर्शक इस चित्र के सामने से हटना नहीं चाहता। इससे दूर जाने पर भी उसका गहरा प्रभाव उसका पीछा नहीं छोड़ता। इस चित्र में विन्यस्त मृत पुत्र के प्रति माँ की वेदना, उसका अश्रुसिक्त विलाप और उसके अंतर का हाहाकार-मानो इस चित्र में पत्थर की तरह थम... और बर्फ़ की तरह जम गया है। सूली से उतारे जाने के बाद, ईसा की देह मानो सारे संसार की पीड़ा से पीली पड़ गई है। गहरी भूरी पृष्ठभूमि में, आकाश की ओर सिर उठाए विलाप करती मरियम काले परिधान


बैंडवाला (म्यूज़िशियन)

में हैं। उनकी आँखें बंद और दोनों होंठ खुले हैं। उनकी गोद में मृत ईसा पड़े हैं और वह उनका एक अकड़ा हुआ हाथ अपने हाथ में उठाए हुए विलाप कर रही हैं। काँटेदार लता में बिंधा ईसा का सिर नीचे लटका है। कमरे से लिपटे एक चीथड़े के सिवा उनकी खुली देह न केवल उन पर बल्कि उनके साथियों और अनुयायियों पर ढाए गए अमानवीय जुल्म की खुली गवाही दे रही है। यह कहना संभवत: अतिशयोक्ति नहीं होगी कि कृशन की यह अकेली कृति (भी) भारतीय कला के क्षेत्र में उनकी स्थायी उपस्थिति को बनाए रखने में पर्याप्त सक्षम है। गहरे भूरे, काले, फीके, पीले और गंदुमी रंगों के 'कंट्रास्ट' के साथ 'ग्रे' (सलेटी) रंग के विभिन्न 'शेड्स' या 'टोंस' इसे और भी प्रभावी बना देते हैं।

'इम्मास' 'गॉस्पेल' में वर्णित उन दो अजनबियों की कथा है जो इस सूचना से आश्चर्यचकित हैं कि कोई आदमी अपनी क़ब्र से बाहर निकल आया है। इस बात पर उन्हें विश्वास नहीं होता। परस्पर विश्वास और अविश्वास की गाथा को, भारत विभाजन की त्रासदी को कृशन ने अपने अनुभव से जोड़ते हुए बताया है कि उन दिनों उन्हें रेस्त्रां से रात का खाना खाकर घर लौटना पड़ता था। इसमें डेढ़ घंटे लग जाते थे। अँधेरे में और बीहड़ रास्ते से गुज़रते समय उन्हें एक बुजुर्ग सिख का साथ मिल जाता था, जो निश्चित भाव से गुरुवाणी गाता रहता था। उसे पूरा विश्वास था कि इससे बुरी ताक़तें पास नहीं फटकतीं। विश्वास और अविश्वास के इस द्वंद्व में, विश्वास जीतता है। हर संशय के बावजूद 'इम्मास' में उसी शांति की चाह बनी हुई है, जो उस समय की ज़रूरत थी।

इस क्रम में अपनी प्रसिद्ध 'म्यूज़िशियन' (बैंडवाला) 1989-2000) शृंखला के अंतर्गत उन्होंने कई प्रभावी चित्र बनाए। इन चित्रों में बैंड बजाने वाले के चेहरे और उनकी कशिश को जिस तरह रंगों के अनुयोग और तूलिकाघातों से दर्शाया गया है, वह बेहद प्रभावी बन पड़ा है। इन चित्रों में चित्रित चेहरे मानो खुद वाद्य (क्लारनेट, ट्रंपेट, ट्रोम्बोंस आदि) बन गए हैं। उनके चेहरे के तनाव को रंगों का ताप और भी सघन बना देता है।

इक्कीसवीं सदी की शुरुआत के साथ कृशन खन्ना विषय चयन के मामले में और अधिक सतर्क हो गए। विषय के साथ अभिन्न रूप से जुड़े पात्रों--चाहे वे सामान्य हों या विशिष्ट--उन्हें एक तरह से स्थापित कर देना उनके कैनवस की अपरिहार्य कसौटी बन गई। 'बैंडवाला' शृंखला में पहले ही, उनकी यह पहचान तय हो चुकी थी। 'इवनिंग न्यूज़' शृंखला (2004-05) में अकेले या कि साथ अख़बार पढ़ते लोगों की 'स्टडी' बताती है कि एक सक्षम चित्रकार किस प्रकार साधारण-से-साधारण लोगों एवं अलग-अलग क्षेत्र और मानसिकता वालों से तालमेल बिठा लेता है। कृशन उन्हें विश्वास में ले, अपना अंतरंग बनाकर पहले रंगों में बाँधते हैं और फिर मुक्त कर देते हैं। इस शृंखला का सर्वाधिक प्रभावी चित्र वह है जिसमें एक वृद्ध घुटने मोड़, नाक पर चश्मा चढ़ाए अख़बारी पन्नों में धँसा हुआ है। इसी तरह पगड़ी पहना एक युवक घुटनों के ऊपर अख़बार उठाए ख़बरों में डूबा है। कम-से-कम रेखाओं और रंगों का प्रयोग इस शृंखला की विशेषता है।

कृशन खन्ना ने एक बार फिर युद्ध की व्यर्थता और मानवीय विषाद को *महाभारत* के अंधे धृतराष्ट्र और गांधारी (The Blind King and Blindfolded Queen, 2006) के माध्यम से दोबारा अभिव्यक्त किया। सामान्य वेशधारी और निरलंकार इस राजसी-दंपति के पास अपना कहने को अब कुछ भी शेष नहीं। चारों ओर फैली हताशा, मृत्यु एवं रिक्तता को कृशन ने काले, भूरे, धूसर और फीकी सांकेतिक रंग-रेखाओं से व्यक्त किया है। उन्होंने बाद में धृतराष्ट्र और गांधारी की आवक्ष कांस्य मूर्तियाँ भी गढ़ीं, जो अपने रूपाकार में उनके चित्रों के समान ही भावपूर्ण हैं--नियति के समक्ष असहाय और अपने पुत्रों से ही पराजित।....

कृशन खन्ना द्वारा एक और चित्र 'काँटेदार कोड़ा' (Flagellation, तैल रंग, 2006) का उल्लेख भी यहाँ आवश्यक है, जिसमें कोई नृशंस शेख़ (ईरानी या अरबी) एक गुलाम को पट्टे से बाँधकर उसके बाल खींचते हुए उसे काँटेदार कोड़े से मार रहा है। इस चित्र में काले-भूरे रंग और आवेशपूर्ण तूलिकाघातों द्वारा उकेरा गया दृश्य हमारे रोंगटे खड़े कर देता है। यह आँखों पर पट्टी बँधे गुलाम के हावभाव और उस पर ढाए जा रहे जुल्म की इंतिहा और आतंक की छाया से स्पष्ट है। कृशन ने सालभर पहले इसी विषय पर कुछ रेखांकन किए थे, जो उनके चित्र जितने ही प्रभावी हैं। शासक और शासित का इतिहास जुल्म और यातना का ही इतिहास है। इसी रंग प्रविधि से निर्मित उनका चित्र 'बिट्रेयल' (The Betrayal, तैलरंग, 2006) में सफ़ेद, धूसर और भूरे रंग से उकेरे गए दो प्रमुख पात्रों की मुखाकृति और हाथों की मुद्रा सब कुछ बयान कर देती है। पीछे खड़े लोगों की विषण्ण मुद्रा के साथ, दाईं ओर अपनी जीभ बाहर निकाले कुत्ता, आदमी की बेवफ़ाई ज़ाहिर करने के लिए काफ़ी है। जूडा ने भी बेवफ़ाई करने के पहले ईसा का मुख चूमा था।

वर्ष 2006 में कृशन खन्ना ने 'स्टडी फ़ॉर द लास्ट सपर' शीर्षक तैलचित्र में गहरे अवसाद में डूबे जिस वृद्ध का भावपूर्ण चित्र उकेरा है, उनके चेहरे और हाथों की मांसपेशियाँ रंगों की आभा से उज्ज्वल हो उठी हैं। प्रार्थना की मुद्रा में जुड़ी हाथों की उँगलियाँ जलती मोमबत्तियों (जो चित्र में प्रदर्शित नहीं) के कारण अत्यंत प्रभावी बन पड़ी हैं। इसी क्रम में 'लास्ट सपर' (तैल रंग, 2006) शीर्षक चित्र उनके 1988 में आँके गए 'पिएटा' से संबद्ध चित्रों का अगला संस्करण या उसी पूर्व उपक्रम का नया अवतार है। इस शृंखला का एक प्रमाण उनके कुछ प्रशंसकों पर यह पड़ा कि वे कृशन खन्ना को 'क्रिश्चियन' समझ बैठे। उनके एक मित्र को भी भ्रम हो गया कि 'Krishen' ग़लती से 'क्रिश्चियन' (Christian) ईसाई का ही नामोच्चारण तो नहीं।



ईसा संबंधी आख्यान का ही असर था कि इन्हीं विषयों को, दस-बारह साल बाद और अभी हाल (2013-15) में कृशन ने और भी प्रभावी ढंग से उकेरा। मानवीय पीड़ा और अवसाद को चित्रित करते हुए, वर्ण्य विषय के साथ उनके द्वारा रंगों का विलक्षण चयन अद्भुत

प्रभाव उत्पन्न करता है। कोई विषय या आद्यबिंब-- पूर्वनिर्धारित सोच से छिटक न जाए, इसलिए कृशन खन्ना इज़ेल का इस्तेमाल करते हुए कैनवस पर पहले पेंसिल से ड्राइंग बनाते हैं और फिर रंग लगाते हैं। उनका कहना है, "मेरे लिए जिस क्षेत्र को चित्रित किया जाना है, उसे पूरी तरह तैयार किया जाना ज़रूरी है, जो ढेर सारी फ़सल पैदा करेगी। उस ज़मीन को इस योग्य बनाना है कि वह बीज को ठीक ढंग से ग्रहण करे ताकि चित्रकार के मन में जो बिंब या सोच है, वह अच्छी तरह फलित हो सके। हालाँकि कई बार ऐसा भी हुआ है कि अपेक्षा के अनुरूप कार्य सफल नहीं हो पाया।"

यह देखना अवश्य प्रीतिकर लगता है कि 2010 से 2015 के बीच उन्होंने अपनी 'बैंडवाला' शृंखला और 'पिएटा' से संबंधित चित्रों के नए अवतार प्रस्तुत किए हैं। 'बैंडवाला' (म्यूज़िशियन) में चार बैंडवाले लाल वर्दी, काली पैंट पहने, गद्दे में धँसे और बैठे अपने-अपने बाजे फूँक रहे हैं। उनके रेखाभासी चेहरे उनकी गहरी तन्मयता को सूचित कर रहे हैं।

इसी तरह 'पिएटा' शीर्षक चित्र (2015) एक नए संयोजन के साथ चित्रित है। इसमें सफ़ेद वस्त्र और नीली चादर में लिपटी मरियम ईसा को अपने दोनों हाथों में थामे हुई हैं। हाथ और पैर से ज़ख़्मी ईसा चट्टानी पत्थरों पर लुढ़के हैं। मरियम के पास बैठी औरत एक घाघरानुमा परिधान पहने हुए है, जिसका रंग नीला और बैंगनी है। ईसा की देह का रंग यहाँ हल्के पीले और फीके गंदुमी रंग से चित्रित है। उनके सिर और चेहरे को तीखे तूलिकाघातों से और पृष्ठभूमि से झाँकते कुछ लोगों के विषादयुक्त चेहरे को, न्यूनतम और हल्की रेखाओं से दर्शाया गया है।

कृशन खन्ना द्वारा पिछले कुछ वर्षों में चित्रित उनके अधिकांश चित्र और रेखांकन (2013-15 ई.) उनके अध्यवसाय और कला दृष्टि के साक्ष्य हैं। उनकी डायरियों में सुरक्षित अनगिनत रेखांकन समाज के प्रति उनकी प्रतिबद्धता से भी जुड़े हैं। बिना किसी ख़ास उल्लेख के दिल्ली के 'निर्भया' कांड से संबंधित ये रेखांकन बताते हैं कि एक वरिष्ठ कलाकार के नाते वे सामाजिक सरोकारों से गहरे जुड़े रहे हैं।

जीवन के नब्बे बसंत देख चुके कृशन खन्ना आज भी सक्रिय हैं और कला सृजन के साथ विभिन्न कला आयोजनों में उनकी भागीदारी उनकी अनुवर्ती कलाकार पीढ़ी को अनुप्रेरित करती है। देश-विदेश की प्रतिनिधि और सम्मानित कला प्रदर्शनियों में भाग लेनेवाले कृशन खन्ना पद्मश्री से विभूषित और ललित कला अकादमी की रत्न सदस्यता प्राप्त हमारे समय के सर्वाधिक वरिष्ठ एवं समादृत कलाकारों में हैं। ❑

स्वयं प्रकाश की कहानियाँ

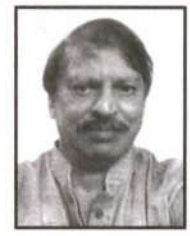
पृष्ठ 29 से आगे..

जाती है। कहानी है एक संजीदे, हंसमुख, व्यवहारकुशल क़ुर्बान भाई की जो पार्टीशन के समय पाकिस्तान नहीं जाते क्योंकि बहुत से चाहने वाले लोग नहीं गए। इसका ख़ामियाज़ा भी उन्हें भुगतना पड़ा लेकिन फिर वे उठ खड़े हुए और राशन की एक दुकान खोल ली। उनकी दुकान पर बौद्धिक क़िस्म के लोगों का जमावड़ा रहने लगा। एक दिन एक गाड़ीवान उनकी दुकान के सामने गाड़ी लगा देता है और आग्रह करने पर भी जब नहीं हटाता है तो क़ुर्बान भाई ख़ुद उसे चबूतरे से खिसकाने की कोशिश करते हैं। यह देखकर वकील ऊखचंद का नौकर क़ुर्बान भाई का गिरेबान पकड़ लेता है, गाली देता है और मियाँ कहता है। इस सबसे आहत क़ुर्बान भाई को सलाह दी जाती है कि थाने में रिपोर्ट की जाए। थाने की तरफ़ जुलूस निकलता है लेकिन सब बहाने बनाकर खिसक लेते हैं। थाने में रिपोर्ट भी नहीं लिखी जाती। अब क़ुर्बान भाई की दुकान पर पहले जैसी हलचल नहीं रही और क़ुर्बान भी ख़ामोशी ओढ़ लेते हैं। कहानी में एक जगह क़ुर्बान भाई कहते हैं, "आप क्या ख़ाक हिस्ट्री पढ़ाते हैं? कह रहे हैं पार्टीशन हुआ था! हुआ था नहीं, हो रहा है, जारी है....।" यह कहानी एक त्रासदी है। त्रासदी है क़ुर्बान भाई का क़ुर्बान मियाँ बनना। वह कौन-सी ताक़त है जो सांप्रदायिक माहौल में हमारी सहजता उड़ा ले जाती है। यह एक सामाजिक प्रश्न है जिसकी पड़ताल होनी चाहिए। कहानी के अंत में, स्वयं प्रकाश लिखते हैं, "बात बस यह बची है कि कई दिन बाद जब एक दोपहर आज़ाद चौक से गुज़र रहा था–जिसका नाम अब संजय चौक कर दिया गया था–और वह शुक्रवार का दिन था–मैंने देखा कि क़ुर्बान भाई की दुकान के सामने लतीफ़ भाई खड़े हैं .... और क़ुर्बान भाई दुकान में ताला लगा रहे हैं।...और उन्होंने टोपी पहन रखी है...और फिर दोनों मस्जिद की तरफ़ चल दिए हैं।" यह तो महज़ कहानी का अंत नहीं है। अंत है आपसी सद्भाव का जो व्यथित करता है। साथ ही मध्यवर्ग की यथास्थितिवादी रवैये पर भी एक प्रश्नचिन्ह है।

आज आपसी सद्भाव को जब व्यवस्था निगलने पर आतुर है। बौद्धिक वर्ग जहाँ मानसिक दिवालिएपन का शिकार है। ऐसी स्थिति में भी स्वयं प्रकाश मानवीयता की गुंजाइश जो बची है या कहीं दबी है, उसे ढूँढ लाते हैं। 'आदमी जात का आदमी' कहानी उसी संभाव्य चेतना की तलाश है। यह कहानी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि सांप्रदायिक मानसिकता की गिरफ़्त में फँसा एक मध्यवर्गीय कवि अंततः मानवीयता की पगडंडी पर चलना शुरू कर देता है। मानवीयता की तरफ़ उसकी वापसी एक उम्मीद की किरण जैसा है। कवि सुधीर रंजन को रामजन्मभूमि से जुड़ी कविता सुनाने के आग्रह पर बुलाया जाता है लेकिन उसकी इकलौती पैंट की चेन ख़राब हो जाती है जिसे ठीक कराने वह रात में सोए शहर की गलियों में निकल पड़ता है और एक मुस्लिम दर्ज़ी की मदद से उसकी पैंट की चेन ठीक हो जाती है। ऐसे में उसे एहसास होता है और वह कहता है कि कितना कठिन है और कितना वाहियात...ऐसे आदमी को हिन्दू या मुसलमान समझना और कहना! स्वयं प्रकाश कहानी का अंत करते हुए लिखते हैं, "सुधीर तेज़-तेज़ क़दमों से कवि सम्मेलन की तरफ़ चला लेकिन उसने वह कविता नहीं सुनाई, 'जन्मभूमि' वाली, जिसे सुनाने के लिए उसे सिंघल भाई साहब ने ग्यारह सौ रुपये देकर बुलवाया था, यह मानसिक परिष्कार की स्थिति है जो प्रेमचंद के यहाँ 'हृदयपरिवर्तन' के रूप में दिखता है। यही वह स्थिति है जहाँ स्वयं प्रकाश सांप्रदायिकता बनाम मानवता की लड़ाई में मानवता को बचा ले जाते हैं।

इस कड़ी में स्वयं प्रकाश की अन्य कहानियाँ जैसे 'रशीद का पजामा', 'चौथा हादसा', 'उल्टा पहाड़', 'हमला' आदि को भी देख सकते हैं जो सांप्रदायिकता के प्रश्न को उठाती है साथ ही ऐसे माहौल में मध्यवर्ग की भूमिका पर भी सवाल खड़े करती है। आज मध्यवर्गीय समाज को चेतने की ज़रूरत है क्योंकि सांप्रदायिक ताक़तें बेरोज़गार मध्यवर्ग को अपनी गिरफ़्त में लेते जा रही हैं। आज समाज के इस वर्ग को चेतना-प्रबुद्ध होने की ज़रूरत है ताकि ऐसे माहौल में वह सहिष्णुता की नींव रख सके और सांप्रदायिक ताक़तों का सामना कर सके। स्वयं प्रकाश की सांप्रदायिकता संबंधी कहानियों को पढ़कर यह सहज ही कहा जा सकता है कि उनकी दृष्टि मानवतावादी है। वे समाज की समस्याओं को सिर्फ़ दया या सहानुभूतिवश चित्रित नहीं करते बल्कि सांप्रदायिक लपटों के बीच संवैधानिक और लोकतांत्रिक मूल्यों को बचा ले जाना उनका मुख्य ध्येय है और ऐसा करने में वे काफ़ी हद तक सक्षम भी रहे हैं। ❑

● कहानी



पुनः

राजा सिंह

जन्म : 2 अगस्त, 1963 (कानपुर)। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ, कहानियाँ प्रकाशित। संप्रति : भारतीय स्टेट बैंक में प्रबंधक।

वह भीकाजी कामा प्लेस में स्थित केंद्रीय पेंशन ऑफ़िस की सीढ़ियाँ चढ़ने ही वाला था कि उसे एक पुकार सुनाई पड़ी। पुकार किसी और के लिए भी हो सकती है। यह सोचकर वह दो-चार सीढ़ियाँ चढ़ गया, लेकिन आवाज़ जिस बच्चे की थी और वह कुछ पहचानी-सी लगी। वह थम गया और पीछे मुड़कर देखा, जिधर से आवाज़ आई थी।

लेकिन आवाज़ का स्रोत नदारद था। वह आवाज़ की तलाश में एकटक उसी तरफ़ देखने लगा। पीछे लोगों की भीड़ थी, परंतु बच्चे की आवाज़ नहीं थी, न कोई बच्चा दिख पड़ा। वह मुड़ा और फिर चलने को हुआ, तब उसने उस आवाज़ को दोबारा सुना, एकदम स्पष्ट एवं तीव्र ..... डैडी .....। वह आवाज़ महीनों बाद सुनने को मिलती है और इस आवाज़ के मालिक से मिलने के लिए वह हरदम बेचैन रहता है। वह ठिठक गया।

वह, बच्ची अपनी माँ के साथ आ रही थी और अपने छोटे हाथों को हिलाकर उसे बुला रही थी।

वह त्रिशा थी, बच्ची बेबी। अभी तक उसे, यही नाम याद रहा था। उसे लगा कि त्रिशा ने बच्ची के मुँह से जानबूझ कर उसके लिए आवाज़ लगवाई है, बाप-बेटी को मिलवाने की ग़रज़ से।

वह क्षण मिहिर के लिए अकल्पनीय और विचित्र था। बेबी अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से उसे देख रही थी- साथ में अपनी माँ से चिपककर खड़ी थी और त्रिशा अपनी आँखें उस पर से हटाकर दूसरी तरफ़ देख रही थी।

"बेबी! यहाँ कैसे? "बच्ची ने माँ की तरफ़ देखा जवाब के लिए। उसे शायद जवाब पता नहीं था। उसने बेबी को अपनी गोद में उठा लिया। वह थोड़ा मचली फिर हैरानी से उसकी गोद में रहते हुए माँ की तरफ़ शरारत से देखने लगी।

"तूने डैडी को पहचाना नहीं?" उसने पूछा।

"पहचाना, तभी उसने आवाज़ दी।" बेबी की जगह त्रिशा ने कहा।

"यहाँ कैसे?" उसने डायरेक्ट माँ से पूछा।

"पासपोर्ट ऑफ़िस आई थी।" उसने और कुछ नहीं पूछा।

"डैडी घर चलो।" बेबी ने कहा।

"जरूर... जरूर, परंतु आज नहीं कल।" उसका जवाब बेटी से ज़्यादा माँ को संतुष्ट कर गया।

"आज ऑफ़िस के काम से पेंशन ऑफ़िस आया हूँ। आज काम निपट जाएगा, फिर आऊँगा।" उसने बच्ची से मुख़ातिब होकर कहा। त्रिशा ने ऐसे सुना जैसे उसे कोई उत्सुकता नहीं हो।

क्षणभर के लिए उसकी आँखें बच्ची की माँ से मिल गईं परंतु अगले ही क्षण दोनों दूसरी तरफ़ देखने लगे।

वह दोनों अपने गंतव्य को बढ़े। बेबी को उसने गोद में उठा लिया था। कुछ क़दमों के बाद पासपोर्ट ऑफ़िस था। उसने बाय-बाय कहकर बेबी को उतारा और पेंशन ऑफ़िस की ओर चल पड़ा। माँ ने उसकी तरफ़ नहीं देखा, वह सिर्फ़ बेबी को देखती रही थी।

कोर्ट के फ़ैसले ने उसे यह राहत दी थी कि वह माह में एक बार बेबी से मिल सकता है। यह त्रिशा की ज़िम्मेदारी थी कि बेबी को उसके पास एक दिन के लिए छोड़ें। अक्सर त्रिशा के घर का नौकर बेबी को लेकर आता था और बेबी को उसके पास छोड़कर चला जाता था। शाम, अँधेरा होने से पहले ही वह बेबी को त्रिशा के घर, बाहर से ही छोड़ आता था। शुरू के दिनों में उत्सुकतावश, प्रेमवश वह खुद महीने के पहले रविवार को त्रिशा के घर जाता और बिना घर की चौहद्दी में प्रवेश किए, वह बेबी को प्राप्त कर लेता था। फिर वह और बेबी दिनभर खेलते-कूदते, खाते-पीते, मटरगश्ती करते हुए घूमते रहते थे और शाम के बाद मिहिर अपने घर में नौकर के आने तक बेबी के साथ रहता। नौकर सदैव सायँ छः से सात के बीच आ जाता था। बेबी उसके पास काफ़ी खुश रहती और वापस जाने पर अनमनी-सी हो जाती।

त्रिशा के पिता को उसका आना पसंद नहीं था। वे चाहते थे कि बेबी को नौकर के हाथ ही भिजवा दिया जाए और वापस भी नौकर ले आए। और उन्होंने दो-एक साल ऐसा नियमपूर्वक चलाया भी परंतु जब वह आ ही जाता तो वह मना न कर पाते। उसने भी उनके बंगले में प्रवेश नहीं किया।

आज करीब तीन सालों के बाद वह उसी बंगले के पास खड़ा है, जहाँ उसका उजड़ा संसार रह रहा है और वह संकोच, झिझक, नापसंदगी के डर से भीतर प्रवेश करने से डर रहा है।

घर का नौकर बाहर कौशल निकला। कौशल बंगले और उसके घर के बीच सेतु का काम करता था और बेबी को संभालता था। उसने भीतर चलने के लिए कहा जिसे उसने नकार दिया और बेबी को लाने के लिए कहा।

कौशल भीतर गया और बेबी के साथ बाहर आया। बेबी उसे भी भीतर ले जाने के लिए मचल पड़ी। वह उसे अपने साथ ले चलने को कह रहा था।

***संपर्क** : एम-1285, सेक्टर-आई, एल.डी.ए. कॉलोनी, कानपुर रोड, लखनऊ-226012, मो. 9415200724*

"मैं तुम्हारे साथ नहीं जाऊँगी।" बेबी ने लगभग चीख़ते हुए कहा। "नाराज़ हो क्या?" वह अचकचाया।

"हाँ, आपने घर आने का प्रॉमिस किया था। चलिए भीतर चलिए।" बेबी ज़िद पर थी। त्रिशा ड्राइंगरूम से उन दोनों को देख रही थी, उन दोनों की आँखें मिलीं और फिर हट गईं। वह बाहर निकल आई और कहा, "आप आ जाइए ना?"

"क्या हो गया है, बेबी को आज।" वह कुछ झुँझलाहट से बोला।

"इस वक़्त यह आपके साथ बाहर नहीं जाएगी। आपने घर जाने को कहा था, इसलिए।" माँ ने अपना स्वर तटस्थ रखा।

"ठीक है, चलता हूँ, मगर ज़्यादा देर नहीं रूकूँगा और फिर मेरे साथ चलना पड़ेगा।" उसने कहा।

बेबी उसे अपना सामान दिखाने के लिए भीतर भाग गई थी। बेबी प्रसन्न हो गई और माँ निश्चिंत।

ड्राइंगरूम में वह बैठा और त्रिशा एक अलग कोने पर पड़े एकल साफे पर। एक बहुत बड़े रूम में दो नितांत अपरिचित की तरह काफ़ी दूर थे, दोनों शब्दहीन थे। उनके शब्द उनके मस्तिष्क से उमड़-घुमड़ रहे थे और मुँह में आ नहीं पा रहे थे।

"मम्मी-पापा नहीं हैं?" उसने पूछा

"वे अब कहाँ!" त्रिशा ने कहा।

"क्या मतलब?" उसने फिर पूछा।

"जजमेंट के एक साल बाद मम्मी चली गईं और पिछले साल पापा नहीं रहे।"

"ओह! सो सॉरी। मुझे पता नहीं चला... किसी ने ख़बर ही नहीं की।"

"हाँ! क्या ख़बर करते? ...चुप एक लंबी चुप्पी।

"भाई एवं भाभी कहाँ हैं?"

"दोनों ने मिल कर एक नर्सिंग होम खोल लिया है। दस बजे के आस-पास निकल जाते हैं, उनके दोनों बच्चे पढ़ने गए हैं। वे एक बजे तक आते हैं। कभी-कभी बच्चे नर्सिंग होम चले जाते है।" त्रिशा ने कोई बात नहीं छेड़ी।

बेबी आ गई थी। वह अपने टोकरी भर खिलौने लाई थी, डैडी को दिखाने। वह बाल-सुलभ चंचलता से एक खिलौने के विषय में बता रही थी और उसे ढंग से दिखा रही थी।

उसने बेबी को बाहर ले जाना चाहा, घूमने-फिरने के लिए परंतु आज पता नहीं क्यों बेबी उसके साथ बाहर जाने को तैयार नहीं थी। वह घर पर रुकने का ही ज़ोर दे रही थी।

चाय-नाश्ता आ गया था। वैसे ही पड़ा था। एक-दो बार त्रिशा ने अनुरोध किया परंतु उसे यहाँ कुछ लेना पसंद नहीं था। उसने बेबी को खिलाना चाहा। उसने भी इंकार कर दिया। "पहले डैडी!" बेबी के लिए।

उसका संकल्प टूट गया।

वह चलने को हुआ। बेबी रुकने को कह रही थी। त्रिशा भीतर जा चुकी थी। शायद भतीजे-भतीजी के आने का समय हो चुका था। बेबी उसे रोक रही थी। उसने उसका एक हाथ पकड़ लिया और उसे न जाने देने के लिए मचल रही थी।

माँ आ गई थी। किसी तरह उसने उसे समझाया कि डैडी फिर आएँगे। उसकी आँखे झुक गईं थीं। मिहिर अभी बैठा हुआ था। बेबी माँ की गोद में थी और बेबी की आँखें बोझिल थीं। जब बेबी-नींद में आ गई तो वह धीरे से बाहर निकल गया।

बहुत दिनों बाद फिर मिहिर को उस रात नींद नहीं आई। ऐसी नींद थी, जिसमें सपने न हो सिर्फ़ यादों का दोहराव हो। नींद और उन्नीदी स्थिति में, त्रिशा के अलावा कुछ नहीं था।

उस दिन सर्दी ज़्यादा नहीं थी। सर्दी का मौसम बीत चुका था। वह अपने ऑफ़िस में बेमन और बेतरतीब बैठा था। वह आई और उसने भीतर आने की अनुमति चाही।

"श्योर!" उसने आवाज़ की तरफ़ देखा, एक सुंदर लड़की ने उसे ताका। बैठिए उसने सीट ऑफ़र की।

"मैं भारत टाइम्स की रिपोर्टर, त्रिशा शर्मा।" उसने अपना परिचय पत्र उसे दिखाया। उसने एक नज़र से देखा और मन ही मन ताज़गी में जड़ता कर अनुभव करने लगा... इतनी कमनीय, खूबसूरत सुंदर लड़की और पत्रकारिता के पेशें में। कहीं पत्रकारिता की भीड़ में सुंदरता खो न जाए।

"मुझे शिकायत है। वृद्धावस्था पेंशन की लिस्ट सही नहीं बनी है। कम-से-कम पाँच-छः लोग ऐसे हैं जिनका कोई नहीं है और साठ से ऊपर है। उनकी जगह ऐसे लोगों की पेंशन स्वीकृत की गई है, जो घर-परिवार के साथ मज़े में रह रहे हैं और जिन्हें पेंशन की कोई आवश्यकता नहीं है।"

"कौन-कौन से लोग हैं?" वह अनिश्चित स्वर में पूछता है।

वह वंचित लोगों की लिस्ट पेश करती है।

वह एक नज़र देखता है और टरका देता है।

"सर, यह बहुत ज़रूरतमंद है। कुछ कीजिए।"

"आपको कैसे पता?" उसने प्रश्नवाचक निगाहों से घूरा।

"मैंने व्यक्तिगत रूप से-खुद पड़ताल की है और इनका प्रार्थना पत्र खुद ही लाकर जमा करवाया है।" उसने कुछ झुंझलाहट से ज़ोर देकर कहा, आवाज़ भरसक नरम थी।

"अब तो कुछ हो नहीं सकता' अगले वित्त-वर्ष में देखा जाएगा।" "अभी कहानी बना देती हूँ।" वह तैश में थी और सफ़ेद गाल लाल हो उठे थे। उसने परवाह नहीं की। लड़की ने अपने सहायक कैमरामैन को आदेश दिया, "विकास, चलो।"

वह बाहर निकल कर अपने साथ लाए लाभार्थियों का इंटरव्यू लेने लगी। कहानी बन रही थी और कल के अख़बार में छप जाएगी।

बाहर से बड़े बाबू भागते-भागते आए। "क्या कर रहे है साहब? उसे रोकिए। गड़बड़ हो जाएगा। इस समय की सरकार बड़ी सख़्त है। सबकी नौकरी पर आ जाएगी।" सबसे ज़्यादा बड़े बाबू का इस चयन में रोल होता है। वह घबड़ाए और उससे गिड़गिड़ाने लगे।

वह हतप्रभ रह गया। उसे मामला इतना गंभीर होगा, अंदेशा नहीं था। उसने चपरासी और बड़े बाबू को भेजा, उसे बुलाने के लिए।

वह नहीं आई।

उसे खुद जाना पड़ा। कार्यालय परिसर में वह हरेक से वार्तालाप कर रही थी और वीडियो कैमरा चलायमान था।

उसके आते ही वह रुकी और उसकी तरफ़ मुख़ातिब हुई। उसे ऐसे देखा कि... क्या कहते हो रोकूँ या जारी रखूँ।

उसने अपनी आवाज़ को विनम्र बनाते हुए उससे कहानी बनने से रुकवायी और उसे लेकर अपने चेंबर में आ गए।

उसने उसे शांत करके बैठाया और चाय ऑफ़र की।

उसने फिर वंचित लोगों की लिस्ट उसके सामने रख दी। "इसकी जेंयूननेस कैसे प्रमाणित करूँ।" उसने फिर शंका व्यक्त की।

"आप मेरे साथ चलिए और खुद अपनी नज़रों से देखकर-समझकर सत्यापित कर लीजिए।"

वह झिझक गया। इतना बड़ा अधिकारी इतने छोटे कार्य के लिए जाएगा? वह सोच में पड़ गया। वह शांत नज़रों से उसे देख रही थी।

उसका साथ! ...उसका चेहरा हल्का-सा सुर्ख़ हो आया। वातावरण एकदम खुशगवार हो उठा था। उसने सहर्ष सहमति दे दी।

उसकी बात एकदम सही निकली। वह उसके साथ एक-एक व्यक्ति से उनके आवास में मिला और उसकी शिकायत सही पाई।

उसने अतिरिक्त लिस्ट छः लाभार्थियों की और संस्तुति करवाई। लड़की को निहायत खुशी मिली और उसे संतोष।

'भारत टाइम्स' में कई कहानियाँ निकलती रहीं। दबे-कुचले, शोषित और पिछड़ों की हमदर्दी की और उनकी सहायता में तत्पर लोगों की। वह उनकी आवाज़ बन कर उभर रही थी। उसमें एक कहानी उसकी भी निकली एक सच्चे ईमानदार कर्त्तव्यनिष्ठ अफ़सर की। इन सब कहानी की कहानीकार बनी त्रिशा शर्मा।

समय बीतने लगा। उसे लगा जैसे वह दोनों किसी की प्रतीक्षा कर रहे हों। वे चाहतों के दिन थे। प्रतीक्षा थी एक-दूसरे की, एक-दूसरे के साथ की। वह समय निकाल कर एक-दूसरे से मिलने लगे। वह दोनों मिलते और उनकी आँखों में अजीब-सी तसल्ली घिर आती। वह उसकी सुंदरता से आलोकित था।

प्यार पनपने लगा था। एक-दूसरे का आकर्षण चरम पर आ गया। वे एक अद्‌भुत भावात्मक स्थिति में थे, लालसा और मोह से भी आगे निकल गए थे।

उनके प्यार में जल्दबाज़ी नहीं थी। क़दम-क़दम पर एक-दूसरे को समझ रहे थे और रिश्ते को विश्वास के साथ सींच रहे थे।

एक-आध वर्ष बीतते-बीतते उनमें ज़बरदस्त लगाव पैदा हो गया। लगाव ऐसा महसूस होने लगा कि बंधन में बँध जाने की उत्कन्ठित। एक ऐसा बंधन जो दो लोगों को एक लंबे सफर पर साथ ले जाने को मजबूर करने की ताक़त रखता था। एक ऐसे सफ़र में जाने को उद्‌घृत जहाँ ज़िंदगी का हरपल साथ गुज़ारने की अभिलाषा ज़ोर पकड़ने लगे।

अब उनके मन में अकल्पनीय प्यार उमड़ने लगा था। एक-दूसरे से मिलने के प्रयासों में नींद न आना, भूख न लगना, किसी और काम में मन न लगना और अपनी रिलेशनशिप से जुड़ी हर छोटी-बड़ी चीज़ के बारे में सोच कर खुश होना।... उसके जैसा कोई नहीं...।

उनका प्यार पनपकर नशे में तब्दील हो चुका था।

उन दोनों ने कोर्ट मैरिज कर ली। त्रिशा के घर वाले राज़ी नहीं थे। वह उनकी जाति का नहीं था और उसका पद भी उनकी गरिमा के अनुकूल नहीं था। वह आई.ए.एस. दामाद की कल्पना किए हुए थे, क्योंकि उनकी बेटी लाखों में एक थी। मिहिर के पास माँ के अलावा कोई नहीं था। माँ ने कहा, 'जैसी बेटा तुम्हारी मर्ज़ी, जिसमें तुम खुश रहो।'

शनैः शनैः त्रिशा के घरवालों का विरोध भी मंद पड़ गया। मिहिर की माँ को कोई शिकायत न थी, उनके अपने हिसाब से त्रिशा में कोई कमी नहीं थी। उन दोनों को जहाँ मिल गया था। दो सालों के भीतर ही बेबी आ गई। माँ बेहद प्रसन्न थी त्रिशा पत्रकारिता के अलावा अपने सामाजिक कार्यों में भी व्यस्त थी। उसके पास बेबी के लिए भी समय कम पड़ रहा था। और माँ और अधिक बीमार और वृद्ध होती जा रही थी। उन्हें सब कुछ संभालना भारी होता जा रहा था।

उसका सर फटा जा रहा था। हर बार नए सिरे से फिर वही सवाल आ खड़ा होता था कि आख़िर में वह अलग क्यों हुए? वह किसी में भी ग़लती चिन्हित नहीं कर पाता था। वह सोचता है कि परिस्थितिवश वह दो भले लोग भी एक-दूसरे के विरोधी हो जाते हैं क्यों वह अपने को इस अतीत से पूरी तरह मुक्त नहीं कर पाता? पता नहीं किस आशा व विश्वास से वह अपना एकाकीपन काट रहा है। जब तक माँ थी, हरदम कहती रहती थी, "बेटा नया घर बसा ले, उसकी चहल-पहल से तू यह दुख भूल जाएगा। अपनी ज़िंदगी को नए सिरे से सँवार।' क्यों इस तरह अकेली ज़िंदगी जी कर यह सब यंत्रणा सह रहा हैं? परंतु नए सिरे से ज़िंदगी शुरू करने की कल्पना से भी वह अवसाद से घिर जाता था। त्रिशा और बेबी के बग़ैर वह किसी भी प्रकार के जीवन की कल्पना नहीं कर पाता था।

त्रिशा सुंदर, समझदार और पढ़ी-लिखी, ज़हीन थी। उसमें इन सब विशेषताओं के बावजूद कोई अहंकार नहीं था परंतु उसे अपनी स्वतंत्रता बहुत प्यारी थी।

अतीत, उसे डस रहा था।

बेबी को कुछ बुख़ार था। माँ से संभल नहीं रही थी, परंतु वह चली गई। उसे गंदी मलिन बस्ती और उनके निवासियों की समस्याओं की जाँच-पड़ताल करने और उसकी रपट बना कर अपने अख़बार में पहले पहल प्रकाशित करना था। रात में आठ बजे के बाद दाखिल हुई। उसे दुख और पछतावा था परंतु उसे अख़बार का काम ज़्यादा ज़रूरी लगा।

वह उबल पड़ा अनाप-शनाप बोलने लगा। वह चुपचाप सुनती रही और बेबी की तीमारदारी में व्यस्त रही। हालांकि वह माँ के साथ जाकर बेबी को डॉक्टर को दिखला आया था और अब बुख़ार भी नहीं था। और बेबी करीब करीब नार्मल हो चुकी थी परंतु मिहिर अशांत था। उसने त्रिशा की हालत का कोई अंदाज़ा नहीं लगाया कि वह भूखी, प्यासी और दुखी है।

"आज से तुम अख़बार में संवाददाता का काम नहीं करोगी।" उसने चेतावनी दी।

"नहीं! ऐसा नहीं कर सकती।"

मैंने अपना यही कैरियर चुना है। हालांकि पापा चाहते थे कि मैं ग्रेजुएशन के बाद आई.ए.एस. या पी.सी.एस. बनूँ। यह मेरा शौक है, जुनून है।

"तो तुम अख़बार में डेस्क वर्क पकड़ सकती हो। अगर तुम्हें संपादक से कहने में असुविधा हो तो मैं उनसे अनुरोध कर सकता हूँ।"

"कोई ज़रूरत नहीं है आपको ऐसा कुछ कहने की। ...मैंने जानबूझ कर ज़िद करके अपना यह काम चुना है क्योंकि मुझे इससे दलितों और कुचलों की आवाज़ बनना है, इस कारण मैंने अख़बार के डेक्स वर्क को ठुकराकर इसे अपनाया है।"

"अब ऐसा नहीं चलेगा। घर परिवार की क़ीमत पर तुम इसे जारी नहीं रख सकती।" उसने चेतावनी जारी कर वहीं बहस को विराम दिया। त्रिशा कुछ नहीं बोली परंतु अनमनी होकर वह बिना कुछ खाए-पीए सोने चली गई। वह ठगा सा रह गया। वह उससे कोई आश्वासन चाहता था इस संदर्भ में। वह हैरान होकर देखता रह गया।

त्रिशा का रवैया नहीं बदला। कुछ दिन तो वह शांत रही परंतु फिर उसने सामाजिकता की वही राह पकड़ ली। अब उसने अपने अभियान के तहत एक बदनाम युवा मंत्री का सहयोग लेना शुरू कर दिया। अक्सर मंत्री की लाल बत्ती की गाड़ी उसके घर के दरवाज़े पर आकर उसे ले जाती और फिर वही गाड़ी उसे घर वापस छोड़ जाती।

मिहिर क्रोधित हो उठा। उसने उसे लताड़ा।

"किसका साथ पकड़ रखा है। उस बदनाम मंत्री के साथ क्या ग़रीबों का भला कर पाओगी?"

"क्यों? ग़रीबों का भला करवाने के लिए किसी का भी साथ किया जा सकता है।"

"नहीं, उसके साथ नहीं। यह मेरा आदेश है।"

"क्यों? विवाह पूर्व मैंने आपका भी साथ लिया था, वंचितों को उनका वाजिब हक़ दिलवाने के लिए।"

"परिणामस्वरूप तुम मेरी पत्नी बन गई।। उसको गुस्से में भी हँसी निकल गई।

"इससे ग़लत क्या हुआ?"

"मगर उसके साथ ग़लत हो सकता है।"

"कुछ ग़लत नहीं होगा।"

"नहीं उस मंत्री का साथ नहीं लेना है। यह मेरा आदेश है।"

"मैं ऐसे किसी आदेश को नहीं मानती। तुम्हारी सोच पुरुष की अधिकारवादी मानसिकता की परिचायक है।"

"सोच लो। ...यह इस घर में जारी नहीं रह सकता।"

"ठीक है, मैं यहाँ से जा रही हूँ। किंतु मैं अपना पीड़ित-शोषितों की आवाज़ बनने का रास्ता नहीं छोड़ूँगी।"

माँ ने कहा, "बेटी, सही तो कह रहा है, मही! वो, काम क्यों करना जिसमें पति राज़ी न हो।"

"आप तो अपने बेटे का ही पक्ष लोगी। मेरी बात क्यों सुनोगी।"

यह कह कर उसने अपनी अटैची में कुछ कपड़े रखे और बेबी को लेकर अपने पापा के घर चली गई। माँ ने उसे बहुत रोकने की कोशिश की परंतु वह नहीं रुकी। वह अन्यमनस्क खड़ा-खड़ा उसका जाना देखता रहा।

...कोर्ट रूम उस समय भरा हुआ था। जज साहब अभी नहीं आए थे। त्रिशा और बेबी एक साथ बेठे थे। माँ बेटी एक-दूसरे की हूबहू नक़ल जैसे सफेद संगमरमर की एक बड़ी और एक छोटी प्रस्तर प्रतिमा एक ही रंग रूप और डिजाइन की। जैसे फ़ोटोग्राफ़र ने फ़ोटो खींच कर एक छोटी व एक बड़ी तस्वीरें फ्रेम कर दी हो। माँ गुमसुम और उदास, बेटी चुपचाप उत्सुक नज़रों से इधर-उधर देख रही थी। अंततः उसे वह दिख गया। उसने उधर ही अंगुली उठाई।

"मम्मी... डैडी उधर।"

"चुप...। ठीक से बैठो।" कहकर उसकी बात अपने में समेट ली। मिहिर ने भी उन दोनों को देख लिया था। उसकी आँखों में आँसू छलछला आए थे। जब माँ ने बेटी को झिड़का था। दोनों पक्ष के कई रिश्तेदार आए थे। उन्हीं में से कोई स्वर उभरा! ...कैसा निष्ठुर बाप है, इतनी सुंदर और मासूम माँ-बेटी को छोड़ रहा है ...। अरे! इसका किसी और से चक्कर हो गया होगा ... ?" ...च् ...च् ...शर्म भी नहीं आती है ...।

वह चीख़ना चाहता था कि वह उन्हें नहीं छोड़ रहा है, बल्कि उसे अलग किया जा रहा है, उसकी पत्नी और पुत्री से। इसमें खलनायक है, उसका ससुर माननीय शशिधर शर्मा, सरकार का उच्च अधिकारी जिसने कभी-भी उनके रिश्तों को अहमियत नहीं दी।

उसे पूरा यक़ीन था कि त्रिशा का गुस्सा जब काफूर हो जाएगा और वह उसे समझेगी, तो अवश्य लौट आएगी।

काफ़ी इंतज़ार के बाद वह खुद गया था त्रिशा व बेबी को वापस घर लाने के लिए परंतु त्रिशा के पापा ने उसे बेइज़्ज़त किया और कहा "उसने उसकी फूल जैसी ज़हीन बेटी की क़दर नहीं की।" त्रिशा मिली तो मगर अपने न चले के स्टैंड पर कायम रही। हाँ, ज़रूर ...बेबी उससे लिपट कर मिली और आँसुओं में डूब गई। उसके वहाँ से लौटने तक वह बिलख-बिलख कर रोई।

जज ने अंतिम बार त्रिशा से पूछा, "आपसे, आपके पति ने कभी दुर्व्यवहार किया?"

"नहीं।"

"गाली-गलौज की?"

"नहीं"।

"मारपीट की?"

"नहीं"।

"कोई मानसिक यंत्रणा?"

"नहीं"।

"फिर आप क्यों डिवोर्स चाहती हैं?"

"अपनी स्वतंत्रता हेतु। इनके साथ रह कर मेरे स्वतंत्र व्यक्तित्व का विकास संभव नहीं है।"

"आपने गुज़ारा-भत्ता के लिए अप्लाई नहीं किया है?"

"मुझे ज़रूरत नहीं है। मैं खुद कमाती हूँ।"

"और, बेटी के भविष्य हेतु?"

"यह इनकी मर्ज़ी या कोर्ट जो उचित समझे।" अब जज साहब मिहिर से मुख़ातिब हुए।

"मिस्टर, आप क्या चाहते हैं?"

"कुछ नहीं! सिर्फ़, इनकी खुशी।" उसने त्रिशा की तरफ़ अंगुली उठाई।

"वह तो डिवोर्स चाहती हैं।"

"तो फिर डिवोर्स ही सही।" उनकी खुशी में मेरी सहमति है।

कोर्ट ने तलाक मंजूर कर दिया। बच्ची के भविष्य के लिए दस लाख रुपये, मिहिर को जमा करने का आदेश दिया। माह में कम-से-कम एक दिन उसे बच्ची से मिलने की अनुमति दी और यह सुनिश्चित करने की जिम्मेदारी माँ पर आयद की गई।

उसे लग कि उसके अंदर से दुख, निराशा, हताशा का एक सैलाब आँसुओं के रूप में बाहर निकलने को आतुर है। उसने उस सैलाब को ज़बरदस्ती बाहर निकलने से रोका। क्या यही वह ज़िंदगी है, जिसे पाने के लिए उसने संघर्ष किया था? उसके मन में एक शून्य सा घिर आया और वह बेबी से बिना मिले ही वापस चला गया। बाद में वह बहुत पछताया। उसे ऐसा नहीं करना चाहिए था, इसमें बेबी का क्या कसूर? वह तो अबोध, मूक और असहाय दर्शक रही थी, इस प्रकरण में।

वह कोर्ट से ख़ाली लौट आया। नहीं गई, घर पर ही माँ रुकी, उसे भी पता था, निष्कर्ष।

कोई बात नहीं बेटा सब ठीक हो जाएगा। मैं तेरे लिए अपनी जाति में ही उससे भी जो सुंदर और अच्छी बहू लाऊँगी, जो नौकरी न करती हो।"

माँ ने ढाढस बँधाया और चाय बनाने के लिए किचन में बढ़ गई। वह, वहाँ से लडखड़ा रही थी, "ऐसी बीबी किस काम की जो पति का कहा न माने और जिसे अपनी संतान की ममता न हो।"

आज पहली बार उसने माँ के मुँह से बहुत के लिए कुछ बुराइयाँ सुनी थी वरना वह दोनों सदैव माँ-बेटी की तरह रहती थीं। उससे बेटे की निराशा और उदासी देखी नहीं जा रही थी परंतु वह भी असहाय थी। अलगाव के स्थाई कारण से कोई खुश नहीं था।

उस बेहद कठिन और असहनीय रात को मिहिर ने बिना कुछ

खाए गुज़ार दी। नींद नहीं थी सिर्फ़ त्रिशा का अक्स और उसकी साफ-सुथरी परछाईं उससे रूबरू थी। कभी-कभी बेबी की अबोध सूरत बीच में आकर कुछ व्यतिक्रम अवश्य पैदा करती थी परंतु वह पूरी रात त्रिशामय थी जो अब कभी उसके पास नहीं होगी। अंतरंगता के विपरीत ध्रुव में संवार सदैव के लिए खो गई है। और उसके पास है बेबसी के आलम में तनहाई का ख़ौफ़, अनबुझी मिलने की चाह। सूरत और सीरत का अद्‌भुत संगम थी। उसके जैसा कोई नहीं, वो नहीं तो कोई नहीं... उसकी आरज़ू में जीना है... अफ़सोस, अब इंतज़ार के भी नाक़ाबिल हो गए...। एक क्षीण-सी आशा की डोर आती है और बेबी तक आकर गुज़र जाती है।

वह भूलने के लिए कुछ नशा करना चाहता है परंतु माँ की निरीह आँखें उसे रोकती हैं। बेबी का मासूम चेहरा झलकता है परंतु वह उस नशे से बच नहीं पाता जो त्रिशा के ख़्वाबों, ख़्यालों और नशीली अदाओं से उपजता है।

उसमें एक अजीब तनाव फैलने लगा जो उसके हर क्रियाकलाप में दृष्टिगोचर होने लगा है। वह बेचैनी से प्रतीक्षा करता है, उस दिन की जब वह बेबी से मिलेगा। उसे अपनी ग़लती समझ में नहीं आती। जब तक माँ थी वह त्रिशा की ही ग़लती बताती रही। कोई उसका इतना अंतरंग मित्र नहीं था जिससे वह संपूर्ण प्रकरण का ज़िक्र करके अपने किए की ग़लती खोज पाता।

माँ उसकी दूसरी शादी का अरमान लिए चल बसी, उसको यही चिंता सदैव सताती थी कि उसके बाद उसकी देखभाल कौन करेगा!

माँ के जाते ही वर्जनाएँ भी चली गईं। उसने सिगरेट-शराब को अंगीकार कर लिया त्रिशा के स्थानापन्न रूप में परंतु यादें धुंधली नहीं पड़ी थीं। बेबी का हर माह में एक दिन के लिए मिलना, एक आस जगा जाता। त्रिशा के प्रतिरूप से मिलना कुछ कम आनंददायक नहीं था, दबाव और तनाव तले भी वह उस दिन खुशी से भर जाता था।

उसने रज़ाई उठाई और उसका चेहरा बाहर आया वह अधजगा था। बीती रात वह काफ़ी देर तक जगता रहा। अगली सुबह रविवार था, दिसंबर का पहला रविवार, बेबी आती होगी। सुबह के आठ बज चुके थे, दस बजे तक बेबी आ जाएगी, उससे पहले सब तैयार होना है। ख़ैर, कौशल आएगा छोड़ने। आज बेबी को लेकर किसी अच्छे पार्क में जाएँगे फिर उसके बाद मार्केट में उसके लिए ढेर सारे कपड़े दिलवाने है, कुछ खिलौने भी गुड़िया या साइकिल-रिक्शा आदि। वह रातभर मंसूबे बनाता रहा और पेग पर पेग चढ़ाता रहा। जाने कितनी सिगरेट पी डाली।

सब-कुछ बिखरा पड़ा है। ठीक करना है। उसने कमरे में बिखरे सामान को देखा। उन्हें सहेज दिया और सभी चीज़ों को यथास्थान रख दिया।

काम वाली आ गई थी। उसने झाड़ू-पोछे का काम संभाल लिया और वह जल्दी-जल्दी फ्रेश होने चल दिया। वह चाह रहा था कि किसी तरह बेबी के आने से पहले वह फ़िट और फ़ाइन हो जाए।

दस को पार हुए, आधा घंटा हो गया था कि वह बेक़रार होने लगा। उसने सोचा कि कहीं उन्हें याद न रहा हो और उसकी मम्मी उसे लेकर कहीं और न चली गई हो। उसे अफ़सोस हो रहा था कि उसे कल रात ही फ़ोन करके सुनिश्चित कर लेना चाहिए था, बेबी के आने के विषय में।

वह बार-बार बालकनी पर जाता है—एक धड़कती आशा लिए। बार-बार उसकी नज़र सड़क पर दौड़ती और पहले से भी अस्थिर होकर वापस कमरे पर लौट आती और उसके कान फ़्लैट की घंटी बजने की आवाज़ सुनने पर जग जाते।

ग्यारह बज गए थे और वह बहुत उत्कंठित और व्याकुल था। उसने कल रात से कुछ खाया नहीं था। इसलिए भूख उसे परेशान किए थी। उसने देखा काम वाली ने नाश्ता क्या बनाया है परंतु उसका मन नाश्ता करने को नहीं हुआ। वह सोच रहा था कि इसी बीच कहीं बेबी आ गई तो?

बेल की आवाज़ आ रही थी। उसने जल्दी से दरवाज़ा खोला, बाहर कोई नहीं था। वह वापस लौटा, आवाज़ अब भी आ रही थी। ओह! आवाज़ उसके मोबाइल से आ रही थी। वह आश्चर्य में पड़ गया मोबाइल पर त्रिशा शर्मा थी। करीबन चार साल बाद उसकी काल वह देख रहा था। वह डर गया कहीं त्रिशा ने बेबी के न आने के विषय में तो काल नहीं की है। फिर भी कैसी भी काल हो, आख़िर वह त्रिशा की है, वह लपक कर उठा लेता है।

त्रिशा ने बताया वह और बेबी नीचे खड़ी हैं, बेबी ऊपर नहीं आ रही है। उसका फ़्लैट तीसरी मंज़िल पर था। उसने बालकनी से झांक कर देखा। त्रिशा बच्ची के साथ फ़्लैट की सड़क पर खड़ी है। उसे आश्चर्य मिश्रित खुशी हुई।

वह तेज़-तेज़ चल कर लिफ़्ट तक पहुँचा और उनके पास पहुंच गया। मगर बच्ची ने उसकी तरफ़ नहीं देखा। वह अपनी माँ का हाथ खींच कर वापस चलने की ज़िद कर रही थी। मिहिर ने उसे अपने पास लेने की कोशिश की तो वह मचल उठी और उसकी गोद से फिसलने को हुई।

"मैं आपके घर नहीं जाऊँगी", उसने चीख़ते हुए कहा। वह अचकचा गया और उसे सावधानी से रोड़ पर उतार दिया।

"मुझसे नाराज़ हैं क्या?" उसने बिना त्रिशा की तरफ़ देखे पूछा।

"हाँ, उस दिन आप उसे सोता छोड़कर आ गए थे। नींद से जागने पर बहुत रोई, धोई और कभी आप के पास न आने बात कही थी।" त्रिशा ने कुछ तटस्थ स्वर में कहा।

मिहिर ने अपने कान पकड़ कर बेबी से माफ़ कर देने को कहा और उससे चलने का आग्रह किया। बेबी ने प्रसन्नता की साँस ली।

"मम्मी मेरे साथ चलेगी तो मैं चलूँगी, नहीं तो नहीं।" बेबी ने एक नया हठ किया। बच्ची ने ज़ोरदार आवाज़ में अपनी माँग रखी।

मिहिर और त्रिशा की निषप्रभ आँखें मिलीं और उनमें कौतुहल जाग उठा। त्रिशा ने आँखें फेर ली।

"आज बेमतलब की ज़िद कर रही है।" उसने कुछ उत्तप्त स्वर में कहा।

"तो क्या हुआ? आप भी आ जाइए ना।" मिहिर ने उत्कंठित स्वर में कहा। वह मार्क नहीं कर पाई।

"चलिए, मैं आपके कमरे तक छोड़ देती हूँ, फिर मैं चली जाऊँगी।' त्रिशा झुंझलाहट में बोली। उसे अच्छा न लगा परंतु यही क्या कम था कि त्रिशा खुद आई, बेबी को छोड़ने उस घर, जहाँ से वह चार साल पहले चली गई थी।

लिफ़्ट में वे दोनों साथ थे। बेबी का रूआँसा भाव हँसी में बदल गया। माँ सामने लिफ़्ट को चलता देख रही थी और वह उन दोनों को जीभर के देख रहा था।

उसका कमरा आने पर त्रिशा ने बेबी को अंदर किया और बोली, "अब मैं जा रही हूँ।"

"नहीं।" बच्ची ने उसका हाथ पकड़ लिया। "आप भी साथ यहीं रहो।"

"थोड़ी देर के लिए रुक जाइए ना।" मिहिर ने सोफ़े पर इशारा करते हुए कहा।

वह बैठ गई और इधर-उधर निरीक्षण करने लगी। बेबी टू रूम फ़्लैट, बालकनी, लॉबी और रूम के चक्कर लगाने में व्यस्त हो गई। उसका सब-कुछ जाना-पहचाना था। जाना-पहचाना तो त्रिशा का भी था परंतु कई वर्षों पहले। तब से अब तक वह इस घर के लिए पूरी तरह अपरिचित हो गई थी। अपरिचित तो अब वह उससे भी हो गई थी। उसकी नज़रें इधर-उधर एक-एक चीज़ को देख-परख और तौल रही थी।

मिहिर वैसे ही खड़ा रहा। उसे याद आया नाश्ता तो उसने किया ही नहीं।

"बेबी नाश्ता करोगी?" उसने ऐसे ही पूछा। वह जानता था कि माँ-बेटी नाश्ता करके ही चली होंगी।

"हाँ, डैडी... मुझे भूख लगी है।" त्रिशा भौंचक उसे देखने लगी। उसे यह कुछ अजीब लग रहा था कि दोनों ब्रेड-बटर, कार्न फ़्लेक्स दूध लेकर चले थे। उसे भी बेबी का 'हाँ' कहना अप्रत्याशित लगा।

"आप लेंगी कुछ?" उसने त्रिशा से पूछा, जो सोफ़े में सिमटकर दीवार की तरफ़ देख रही थी।

"नहीं, हम दोनों भरपूर नाश्ता कर के आए हैं।" उसने प्रत्युत्तर में कहा। "आप लीजिए, आपने सवेरे से कुछ नहीं लिया होगा?"

उसने कोई जवाब न दिया, किचन में घुस गया। वह कसमसायी शायद यह सोच कर, यह उसका काम हो सकता था। उसने डाइनिंग टेबल पर नाश्ता सजा दिया था और बेबी को आवाज़ दी जो बालकनी में उचक-उचक कर सड़क की ओर देख रही थी। बेबी आई और मम्मी को न देखकर वह भाग कर मम्मी का हाथ पकड़ कर खींचने लगी, "मम्मी आप भी चलो"।

"नहीं, नहीं मुझे भूख नहीं है। आप दोनों खाओ।" मगर बेबी अपना हठ नहीं छोड़ रही थी। त्रिशा मना करते-करते उसकी तरफ़ देखती जा रही थी।

"आ जाइए न आप भी? न लीजिएगा कुछ। साथ बैठ तो जाइए।" मिहिर के मुँह से अनायास यह निकल गया। त्रिशा ने उसे देखा। उस दृष्टि में चुभन थी, उसके लिए और बेबी के लिए भी। बेबी का मचलना जारी था।

"ठीक है मैं साथ बैठती हूँ। डायनिंग टेबल के एक कोने पर वह बैठी। उसके पास बेबी और बेबी के पास वह बैठा। उसने दो प्लेटों में नाश्ता परोस दिया। फिर तो बेबी डायनिंग टेबुल की बादशाह हो गई। उसने अपने नन्हें-नन्हें हाथों से मम्मी और डैडी को खिलाया, जिसे नकारना उन दोनों के बस की बात नहीं थी।

मिहिर को माँ के जाने के बाद, पहली बार नाश्ता-खाना में स्वाद और संतुष्टि मिली। बेबी बेहद प्रसन्न थी और वह दोनों भी अपना संतोष दबाने में असफल रहे।

मिहिर वैसे ही खड़ा रहा। उसे याद आया नाश्ता तो उसने किया ही नहीं।

तुरंत ही त्रिशा चलने को हुई किंतु उसने बेबी को चलने को नहीं कहा। उस समय बेबी बेडरूम में बिस्तर में कूद रही थी। जाने कहाँ से ढूँढ कर वही गुड़िया और अन्य खिलौने ले आई थी, जो उसी के साथ बिस्तर पर उछल रहे थे। मम्मी के जाने की बात सुनकर वह भागती हुई आई और त्रिशा की साड़ी पकड़ कर खड़ी हो गई। "अभी नहीं, अभी डैडी को प्यार कहाँ किया, हम भी साथ चलेंगे।"

"इसके तो दिमाग़ ख़राब हो जाते हैं।" त्रिशा ने मुँह बिचकाकर कहा।

"हाँ, आपको फ़ील्ड ड्यूटी पर जाना होगा?"

"नहीं, अब फ़ील्ड वर्क नहीं करतीं, शाम को प्रेस ही जाती हूँ। और वैसे भी संडे, वीकली ऑफ़ है।" अनायास ही वह बात सामने आ गई, जो वह बताना नहीं चाहती थी। उसे रोकने के प्रयास में उसने अपने होंठ दबा लिए।

"तब रुक जाइए न? बेबी का मन रख लीजिए।" मिहिर ने अटकते स्वर में कहा।

कहीं न कहीं उसका भी यही मन था। उसने भी यह बात भाँप ली थी। वह कुछ झिझकी, मन रुक गया था। लगता था कि उसकी एक-एक गाँठ खुलती जा रही थी। एकाएक कुछ समझ में नहीं आया, जैसे उसके गले में कुछ फँस गया है। मिहिर यह सोचकर विस्मित हो रहा था जिस बात के लिए उसके बीच अलगाव हुआ था, वह क्योंकर, कैसे हट गई?

त्रिशा की निगाह इधर-उधर भटक रही थी, जैसे कुछ तलाश रही हो। उसकी आँखें मिहिर पर चिपक गईं। आज तक उसने कभी उसे इतनी आतुर विह्वल आँखों से नहीं देखा था। वह साँस रोके त्रिशा की ओर संदेहभरी दृष्टि से देख रहा था। क्या वह अपने-आप कुछ कहेगी? इसमें कोई मुश्किल नहीं, कोई डर नहीं था। यह इतना सरल और आसान था, फिर भी उसका दिल तेज़ी से घबराने लगा।

मिहिर की आँखें उसे देख रही थीं। उसकी आँखों में प्रश्न थे परंतु त्रिशा की आँखें ज़मीन में गड़ी थीं। उसकी आँखें कभी उस पर उठतीं कभी बच्ची पर। समय बीतने लगा था। उसे लगा जैसे कि वह प्रतीक्षा कर रही हो। विचार आ रहे थे, विचार जा रहे थे।

"यदि आप अन्यथा न लें तो मैं क्या पूछ सकता हूँ कि आपने अपने प्रिय शग़ल रिपोर्टिंग को तिलांजलि क्यों दी?" आख़िर में मिहिर से न रहा गया। वह कुछ देर चुप रही फिर कुछ अजीब भोलेपन से उसकी ओर देखा।

"जब तक मम्मी रहीं, रिपोर्टर की ड्यूटी निभाती रही, मम्मी देख लेती थीं बेबी को। हालाँकि पापा और भइया नाख़ुश थे मेरी फ़ील्ड ड्यूटी से और सामाजिक सरोकारों से लिप्त होने के कारण। भाभी अपने बच्चों को ही ढंग से नहीं देख पाती थीं। वे बेबी को क्या देखतीं? मैंने खुद डेस्क अपना ली। शाम को छह बजे से बारह बजे की ड्यूटी है। आने-जाने के लिए प्रेस की वैन आती है। डेस्क ड्यूटी की वजह से बेबी को भरपूर समय दे पाती हूँ। शाम को बेबी भइया के बच्चों के साथ रमी रहती है।"

इतना आसान नहीं था, उसका यह सब बयान करना। उसे लगा कि वह अपराधबोध से पीड़ित है, अवसाद की काली छाया ने उसे घेर लिया था। वह अब समझती है कि वह पहले जैसी नहीं है। उसे हैरानी हुई कि बच्ची की उम्र चाहे कितनी छोटी हो, उसकी अपनी शर्तें हैं और वह उसकी शर्तों में कितनी आत्मनिर्भर है? सबके साथ है फिर भी अकेली है। मिहिर के चेहरे पर एक विकृत मुस्कुराहट पसर गई।

उस समय काफ़ी सन्नाटा छा गया था। बेबी खेलते-खेलते वहीं बेडरूम में सो गई थी। वह बच्ची को ध्यान से देखने लगा, जैसे कि उसे पहली बार देख रहा है। उसे देखकर उसने माँ को देखा। एकदम सफ़ेद और निरीह। उसे उस पर प्रेम और करुणा उमड़ आई। उसके दिल में शोर होने लगा और दिल धक-धक करने लगा लेकिन इस क्षण उसने अपने-आप को विमुक्त किया। अब उसका मन शांत था।

"मुझे चलना चाहिए....।" दोनों ने एक-दूसरे को देखा और उसका ध्यान गया बेबी की तरफ़ । पूरे दिन के बाद बच्ची निश्चित होकर, बेफ़िक्र सो रही थी। अपने डैडी और मम्मी के सान्निध्य से अलग। वह उठकर आया और उसने बच्ची को छुआ। यह छूना था कि बच्ची धीरे से हिली। एक क्षण को आँख खुली और फिर बंद हो गई। वह एकदम उसे देखती रही।

"रहने दीजिए, कुछ देर और सही।" त्रिशा की आवाज़ में थोड़ी सी बेसब्री थी। वह अपने-आप उल्टे पाँव लौट आया और फिर उसके सामने बैठ गया।

"चाय पीएँगी?" मिहिर ने पूछा।

"नहीं"। उसके स्वर में उकताहट थी।

वह अलग समय था, जब उसने सोचा था कि अब उससे कभी नहीं मिलूँगी। आज अलग हुए तीन साल हो चुके हैं और साथ बैठे हैं।

"आप जाना चाहो, तो चली जाओ। मैं बेबी के उठने पर, घर छोड़ आऊँगा।" वह कहता है।

वह बाहर आई चलती हुई... फिर रुक गई, "थोड़ा और देख लेते हैं।" कमरे में आई तो देर तक उसके सामने बैठी रही, निस्संग और निःशब्द।

भीतर अँधेरा दिखने लगा था और बाहर रोशनी कम होने लगी थी। बेबी उठ गई और उठते ही रोने लगी। त्रिशा ने झट से उसे चूमती हुई पुचकारा और चुप करवा दिया।

मिहिर ने भी बेबी को उसकी गोदी में ही प्यार किया। बिना किसी प्रत्याशा से उसके मुँह से निकल गया, "अब तो अगले महीने ही मिल पाएँगे।" यह बात उसने बेबी के लिए कही या त्रिशा के लिए, था.. अपीलिंग।

"कोर्ट ने माह में एक बार न्यूनतम एक दिन की मिलने की शर्त रखी थी। अधिकतम मिलने की कोई पाबंदी नहीं लगाई है।" वह अप्रत्याशित रूप से मुखर होकर बोल उठी। फिर अपने कहे पर संकोच में घिर गई जैसे स्वयं उसके मिलने की बात हो।

उसके दिन बदल रहे थे। वे वैसे बदरंग और धूसर नहीं रहे थे। उस दिन के बाद से हर हफ़्ते तो नहीं पर अक्सर वह त्रिशा और बेबी से मिलने लगा था। उसकी पहल पर और कभी-कभी त्रिशा की पहल पर भी।

सुबह उठते ही वह बेबी की राह देखने लगता। यह भी भूल जाता कि उसे ऑफ़िस और बेबी को स्कूल भी जाना होता है। नाश्ता और खाना उनके साथ खाने के लिए मन करता। वह चाहता था कि त्रिशा बेबी को लेकर घर आए परंतु त्रिशा घर आने से बचती थी। उसे घर बहुत भावुक बना देता, आँखों की कोर गीली कर देता था। उसे फ़्लैट की एक-एक जगह मौनता की चादर ओढ़े गुज़रे एक-एक पल, लालायित करते उन्हें फिर जीने के लिए या बस यहीं मर जाऊँ, इसी से लिपटकर।

हर शनिवार प्रतीक्षा होती कि रविवार ख़ाली न जाए परंतु प्रच्छन्न इच्छा नीरव गुज़र जाती। मिहिर शिकायत उलाहना किससे करे? पता नहीं क्यों अब पृथक होने का भाव नहीं उभरता था। वैसे कई बार वहाँ जाने का मन करता, परंतु हल्की-सी हिचक उभर आती और उसके तले वह दब जाता।

यह रविवार कुछ अलग-सा रहा। वह दिनभर अकेले कमरे में सोता रहा था। शनिवार की रात कुछ अजीब सी गुज़री थी। रातभर यादें दर यादें। कभी कुछ लम्हें उसे उड़ा ले जाते तो वही लम्हें वापस उसे वहीं पटक जाते। सब कुछ धुँधला-सा था और उसने कब अपने को ढीला छोड़ दिया, पता न चला। मिहिर को लगा कि वह रहस्यमय ढंग से उस पर आश्रित होता जा रहा है। उसने जानबूझ कर काल नहीं की। उसे अपने भीतर एक अजीब-सी बेचैनी महसूस होने लगी। त्रिशा को अपने अस्तित्व का बिलकुल भी आभास नहीं रहा। निस्संदेह वह ख़ुद काल का इंतज़ार कर रहा था अनवरत यादों से।

यह महज़ संयोग रहा होगा, उससे ज़्यादा कुछ नहीं, क्योंकि कुछ देर बाद ही उसने रिंग की आवाज़ सुनी और मोबाइल को चमकते देखा। वह स्थिर अविचल पड़ा, झटके से उठा। प्रत्याशा के अनुरूप काल त्रिशा की ही थी।

"हेलो!" उसने कहा, "मैं हूँ।" वह समझ गया था। उसकी आवाज़ लाखों में पहचान सकता था। चुप रहा।

"हेलो, हेलो," उसने अनजाने में उसके मुँह से प्यार का नाम त्रिशी निकल गया। उसका स्वर घबराया-सा था। उसे डर था कि कहीं वह सेल ऑफ़ न कर दे।

हाँ, त्रिशी ही...। वह धीरे-से हँसी एक छोटी-सी हताश हँसी। ...सुनो आज हम लोग आप के घर नहीं आ सकेंगे ...हम लोग शाम को नेशनल म्यूज़ियम जा रहे हैं, वहीं आप भी आ जाइएगा।" उसकी तरफ़ सन्नाटा रहा। उसने पूछा, "क्या आप वहाँ आ सकोगे?" उसके मन में आया कह दे, त्रिशा आज नहीं, आज शाम को काम है। नहीं, वह ऐसा नहीं कह सकता, कदापि नहीं।

"ज़रूर मैं समय से पहले आ जाऊँगा।" उधर से असीम निर्भेद मौन सिमट गया। वह कुछ देर कान में सटाए इंतज़ार करता रहा और शायद उधर भी, क्योंकि सेल बंद होने की आवाज़ काफ़ी देर बाद आई।

इतवार का दिन नेशनल म्यूज़ियम में भीड़ थी। हाल में उसे भ्रम होता कि वह दोनों यहीं कहीं हैं। शायद अभी नहीं आई..। वह, अकेले गुमसुम किसी मूर्ति को देखने लगता है। देख मूर्ति रहा है, बिना कुछ पढ़े और खोया है, प्रतीक्षारत है, त्रिशा और बेबी की आहट सुनने में।

वह अचानक दिखाई दे जाती है... वह इशारा करती है कुछ सम्हालने का, देखने का.. अरे। बेबी... भागती आ रही थी, डैडी...डैडी... कहते उसकी तरफ़ नन्हें-नन्हें कदमों से। वह लपक कर उसे गोद में उठा लेता है और चूम लेता है। उनके इस क्रियाकलाप से म्यूज़ियम के शांत वातावरण में गतिरोध छा गया। वह तीनों म्यूज़ियम देखने लगे। बेबी वहाँ खेलने लगी थी। शोर होने लगा। वह कलाकृतियों को छोड़कर बाहर निकल आए।

बाहर एक बहुत बड़ा गार्डेन था जिसमें मख़मली घास बिछी हुई थी और किनारे-किनारे घास, झाड़ियाँ, फूल, पत्तियों से विभिन्न आकार के जीवन जंतु और आदमी औरतें और बच्चों की आकृतियाँ थीं। कई जगह लोहे की मज़बूत कुर्सियाँ-भी पड़ी थीं। काफ़ी, जोड़े और बच्चे टहल और खेल रहे थे।

उन्होंने एकांत की एक बेंच तलाश ली थी। पहले वह तीनों एक साथ बैठे। बीच में बेबी सदैव की तरह मध्यस्थ की भूमिका में।

बेबी निकल कर भागने लगी, वह उसके पीछे-पीछे दौड़ा। कहीं वह गिर न पड़े। उसके साथ घूमता रहा और घास में लोटता भी रहा। माँ चुपचाप बेंच में बैठी उन दोनों को निहारती रही। उसमें उदासी और अविश्वास भरा था। उसने बच्ची की कई कोणों से तस्वीरें ली। वह उसकी भी तस्वीर लेना चाहता था परंतु वह साहस नहीं जुटा पा रहा था। बच्ची जब थक गई वह लौट कर अपनी मम्मी के पास जाकर बैठ गई। और वह दूर अर्थहीन और हास्यास्पद ढंग से मैदान में खड़ा रह गया।

धीरे-धीरे वह उनकी ओर बढ़ा। त्रिशा ने एक तरफ़ हट कर उसके लिए जगह बना दी। बेबी ने फ़ोटो की माँग रखी। उसने अपने मोबाइल से दोनों की तस्वीर ले ली। अब बेबी ने डैडी के साथ फ़ोटो लेने की ज़िद की। त्रिशा ने अपने मोबाइल से उनकी तस्वीर ली। बेबी निढाल होकर माँ की गोद में सो गई।

देर होने लगी थी, अँधेरा उतर आया था। वहाँ गार्डेन की लाइटें जल उठी थीं।

"हमें बाहर चलना चाहिए।" त्रिशा ने बहुत कोमल स्वर में कहा। वो बाहर आ गई।

वे बाहर आ गए। थोड़ा सो लेने के बाद बेबी को बहुत हल्का सा लग रहा था और वह चहकने लगी थी।

मिहिर को चलते हुए डिलाइट रेस्टोरेंट दिखा–उसने पूछा, "एक कप चाय हो सकती है? बेबी को भी आइसक्रीम आदि खिला सकते हैं।"

"ज़रूर-ज़रूर।" बेबी ने हुँकारी भरी। त्रिशा ने एक नज़र उसे देखा और बेबी को आश्वस्त किया।

यह, वह जगह थी, जहाँ वह दोनों शादी से पहले अक्सर आया करते थे और देर तक बैठे गपशप किया करते थे।

अभी रेस्टोरेंट करीब-करीब ख़ाली था फिर भी जहाँ वह बैठे, वह एक कोना था। उसी कोने पर वह बैठा करते थे। वेटर आया और मुस्कुराते हुए बोला, "बहुत दिनों बाद साहब आए हो।" "ओह"! बेबी भी है।"

उसने उसे पहले ही टिप दे दी। वह बहुत खुश हो गया। वह पानी लेकर आया, उसने आर्डर लिया। बेबी खुश थी परंतु त्रिशा की आँखें उदास थीं। वे दोनों एक तरफ़ बैठी थीं और वह उनके सामने।

वेटर ने उनकी कॉफ़ी ला दी और बेबी के सामने आइसक्रीम। बेबी चुप उसे देख रही थी। जब तक त्रिशा ने कहा नहीं, उसने खाना आरंभ नहीं किया।

त्रिशा बहुत गर्म कॉफ़ी नहीं पीती। वह निरपेक्ष भाव से कॉफ़ी को सिप कर रही थी। मिहिर गहन विचार में लीन था। उसे लगता, आज वह सब कुछ कह दूँ जो पिछले कई हफ़्तों से उसके दिमाग़ में उथल-पुथल मचाए था, वह हर पलछिन उस बात को कहने के लिए सोचता रहा था वह भूला नहीं था परंतु वह मौक़े की तलाश में और उचित माहौल का इंतज़ार किया करता। उसे उनके बारे में हर क्षण सोचना अच्छा लगता था।

त्रिशा ने बेबी को खाने को कह दिया और कॉफ़ी खुद पीने से पहले उसे शुरू करने का इशारा किया।

वह त्रिशा के बेध्यान होने पर संपूर्ण निरीक्षण करता हुआ, इस नतीजे पर पहुँचा कि और कुछ बदलाव तो नहीं आया है परंतु उसकी चिरपरिचित मुस्कुराती छवि अब उदास और निराश आलोक में बदल गई है।

लगता है वह क्षण आ गया है जिसकी प्रतीक्षा वह जाने कब से कर रहा था- वह क्षण उसे उकसा रहा था।

"त्रिशी, क्या हम फिर साथ नहीं हो सकते?" उसने बहुत धीरे-से कहा।

"आप, क्या इतनी देर से यही सोच रहे थे?" उसने कहा।

"नहीं, मैं बहुत दिनों से यह कहने का साहस जुटा रहा था।"

"हम कानूनी रूप से अलग हैं। अब क्या हो सकता है?" वह फीकी हँसी और उसकी आँखें पहले जैसी उदास हो गईं। "मैंने इस तरह कभी नहीं सोचा था।"

"किस तरह?" मिहिर ने पूछा।

"जैसा आप सोचते हो और कह रहे हो।" वह उसकी ओर देख रही थी। सूखी और बेजान आवाज़ में वह कुछ बुदबुदाई- "मैंने कभी ऐसे नहीं सोचा।"

मिहिर ने उसको देखा। उसकी आँखों में आँसू छलक आए थे।

"अब वह कारण भी नहीं रहा जिस कारण हम अलग हो गए थे।" उसने बिना कुछ समझे कहा और प्रश्न भरी निगाहों से देखता रहा।

त्रिशा में अविश्वास भरा था। उसने उसमें सिसकती-सी कराहट महसूस की जो कशमकश से भरी थी। सहसा वह मायावी क्षण टूट गया और अपूर्ण रह गया उसका कथन।

निराशा के बावजूद हमारे मन में कोई कटुता नहीं थी।

देर होने लगी थी। वे उठ खड़े होते हैं। उसी बीच वेटर बिल ले आया। उसने बिल भुगतान के साथ फिर टिप दी। वेटर ने डबल सलाम ठोंक दी। एक-दो स्टाफ़ और जानते थे। वे मुस्कुराए और वो भी। वे बाहर आ गए थे। शहर की रोशनियाँ जगमगा उठी थीं। दुकानों के आगे भीड़ लगने लगी थी।

"मुझे ऑटो लेना है।" त्रिशा ने कहा।

"अभी?" मिहिर ने कहा।

"हाँ, देर हो रही है। रात के आठ बज गए होंगे?"

"मम्मी घर चलो।"

वे फुटपाथ पर चल रहे थे और आँखें ऑटो को तलाश रही थीं। मिहिर ने उसे देखा वह बिलकुल शांत थी। दोनों माँ-बेटी एक साथ थीं। त्रिशा ने बेबी की अंगुली पकड़ रखी थी। वह कुछ साथ में अलग चल रहा था। वह कुछ खोई-खोई-सी लगी। कुछ देर बाद वह अपने घर जाएगी और वह अपने फ़्लैट में।

त्रिशा कुछ क्षण रुकी और कुछ देर बार उसकी पलकें उस पर उठी। वह भी ठहर गया।

"मही! आप किसी से शादी क्यों नहीं कर लेते? कब तक अकेले रहोगे?" उसके स्वर में भीगा आग्रह था।

"किसी और से क्यों?" तुमसे क्यों नहीं, वह मुस्कुराता है।

त्रिशा के चेहरे पर शर्म और सहानुभूति का अजीब घुला-मिला भाव था। वह कुछ नहीं कहती। एक लंबी ख़ामोशी और वह उसी के बारे में सोचती रही। वह भी कुछ नहीं कहता। उसे मालूम है उसे जो कुछ कहना है वह कह चुका। अब कुछ कहना शब्दों, वाक्यों का दोहराना ही है।

वह कल रात जागता रहा था और तनाव चरम पर पहुँच चुका था। उसने उसकी बाँह पकड़ी और बोला–

"मैं कुछ पूछ रहा हूँ?" उसकी आवाज़ तल्ख़ हो आई। हालांकि तुरंत वह पछताया, ऐसा व्यवहार अशोभनीय है। वह ढीला पड़ गया।

त्रिशा ने तीखी नज़रों से उसे देखा। कुछ लम्हों के लिए सब कुछ थम-सा गया।

"आख़िर! मैं ही क्यों?" उसका स्वर मुलायम था। उसने कमज़ोर और निश्चित लहजे में प्रतिवाद किया।

"हमें तुम बिन कोई जंचता नहीं, हम क्या करें?" उसने फ़िल्मी अंदाज़ में एक गीत का अंतरा गुनगुना दिया और हँस पड़ा। त्रिशा ने भी मुस्कुराकर बड़ी अदा से सर हिलाया। ❑

बाँसुरी का अदेखा अंत:करण

(*राजेंद्र प्रसन्ना* से *चित्रा शर्मा* की बातचीत)

बाँसुरी का नाम लेते ही श्रीकृष्ण के साथ उसकी मनोहर छवि उभरती है। उनके बाँसुरी को पकड़ने के साथ ही लोकशिक्षण आरंभ हो जाता है। जिस किसी ने बाँसुरी पहले पकड़ी होगी तो उसने श्रीकृष्ण के अंदाज़ को ही पकड़ा होगा। वैसे लोक में सीधी बाँसुरी भी बजाई जाती है लेकिन नज़ाकत और शिल्प का जादू आड़े स्वरूप में ही खिलता है।

श्रीकृष्ण के अंदाज़ को पकड़कर ही विद्वान वादकों ने वादन विधि और शास्त्र को परखकर स्वरों की शुद्धता को अर्जित किया होगा। वह लोक से शास्त्रीय परिसर में आत्मिक ज्ञान के रास्ते आई होगी। धीरे-धीरे वह शास्त्रीय जगत की लाड़ली बन गई। हरिप्रसाद चौरसिया, पन्नालाल घोष जैसे विरले बाँसुरी वादकों ने इसे अंतरराष्ट्रीय पहचान दी।



इसी शृंखला की एक कड़ी है प्रसन्ना परिवार। राजेंद्र प्रसन्ना आज के युग में इस परंपरा के संवाहक हैं। उनके साथ विरासत का पुष्ट भिन्न इतिहास है। उनके अग्रज गुरुओं को शहनाई की शिक्षा और सान्निध्य पहले मिला और बाँसुरी में उनकी आमद बाद में हुई। इनके दादा दयाशंकर प्रसन्ना मूलत: शहनाई वादक थे। वे बनारस के राजा के नौबतखाने की शान थे। शहनाई की इस परंपरा को बाद में उनके पुत्र रघुनाथ प्रसन्ना, भोलानाथ प्रसन्ना और विष्णु प्रसन्ना ने एक शिखर दिया। स्मरणीय यह है कि हरिप्रसाद चौरसिया, भोलानाथ प्रसन्ना के शिष्य रहे हैं। आगे चलकर प्रसन्ना परिवार ने तिरपुरा बाँसुरी के माध्यम से अपनी एक अलग परंपरा विकसित की। कालांतर में पन्नालाल घोष की कृष्ण बाँसुरी ने इस परिवार को आकृष्ट किया और कृष्ण बाँसुरी उनकी परंपरा के साथ ही ज़िंदगी का अमूल्य हिस्सा बनती गई।

आज राजेंद्र प्रसन्ना कृष्ण बाँसुरी की परंपरा में एक शीर्ष नाम है। उन्होंने अनेक विश्वविख्यात कलाकारों के साथ संगत की। उनके नाम संगीत नाटक अकादमी सहित संगीत की दुनिया के कई सम्मान हैं। बाँसुरी वादक का उनका एक स्वतंत्र रूप और शख़्सियत है तो संगतकार की विशिष्ट पहचान भी। उनके घर के कलात्मक आकल्पन के बीच उनका संगीत मन खुलता है। पाण्डव नगर स्थित उनके कलापूर्ण घर में उनसे यह आत्मीय बातचीत ने अपना आकार पाया–

प्रश्न : अपने घरानों पर कुछ प्रकाश डालें।

उत्तर : मेरे दादाजी बिहार में, राजा-महाराजाओं के नौबत खाने में शहनाई बजाया करते थे। उसी परंपरा का मेरे पिता रघुनाथ प्रसन्ना के साथ परिवार के विष्णु प्रसन्ना व भोलानाथ प्रसन्ना ने अपनाया। उन्हीं दिनों नौबतखाने में ही पिताजी ने किसी की तिरपुरा बाँसुरी सुनी, उस कलाकार का नाम याद नहीं। पिताजी ने उसे सीखने की कोशिश की। बहुत फूँक मारने पर एक दिन बाँसुरी से स्वर निकल ही आए और तिरपुरा बाँसुरी धीरे-धीरे हमारे परिवार का हिस्सा बन गई। एक बार पन्नालाल घोष को कृष्णा बाँसुरी बजाते सुन पिताजी उनके दिवाने हो गए और उन्होंने उनके अंदाज़ को अपनाया। सिर्फ़ पिताजी ही नहीं मेरे चाचा भोलानाथ प्रसन्ना, विष्णु प्रसन्ना ने बाँसुरी जगत में अपनी प्रतिभा, साधना के बल पर बहुत से विद्वान शिष्य तैयार किए।

यह तो परिवार के बुजुर्गों की बात हुई। आप बाँसुरी में किस तरह आए और विकास किया?

मैं जब क़रीबन पाँच साल का था तब मेरे दादाजी ने शहनाई हाथ में दी फिर चाचा विष्णु प्रसन्नाजी ने मुझे शहनाई की शिक्षा देनी शुरू की। बारह वर्ष की उम्र में मैंने सबसे पहले कलकत्ता के 'चिल्ड्रन म्यूज़िक कन्सर्ट' में बजाया और मेरा मन लगा। वह कंसर्ट साहस देने वाला था। मेरा जन्म बनारस में हुआ और बचपन भी बनारस में बीता। उन दिनों पिताजी मुंबई चले गए थे। मैं अपने दादाजी, माँ व चाचा के साथ बनारस में शहनाई सीखता था और पढ़ाई-लिखाई भी करता था। बड़ी मुश्किलों से माँ घर का ख़र्च चलाती थीं। 1967 में पिताजी दिल्ली के गीत एवं नाटक प्रभाग में बतौर कलाकार नौकरी करने लगे और हम लोग भी बनारस से दिल्ली आ गए यहाँ से शुरू हुई हमारी एक अलग ज़िंदगी जिसमें मेरी ज़िंदगी संगीत को समर्पित हो गई।

बाँसुरी में आपकी शिक्षा कैसे शुरू हुई?

पिताजी घर में जब बाँसुरी व शहनाई बजाते और सिखाते तो उनको सुन-सुनकर मैं शौक़िया तौर पर बाँसुरी बजाने लगा। हाँ, बजाता फिल्मी धुनें या लोक धुने ही था। इस तरह पहले शहनाई फिर बाँसुरी

***संपर्क** : **राजेंद्र प्रसन्ना** : एस-70, पांडव नगर, दिल्ली, मो. 9810146349*
***चित्रा शर्मा** : एच-45, रेज़ीडेंसी ग्रीन्स, सेक्टर-46, गुरुग्राम-122003 मो. 9868470803*

मेरी ज़िंदगी में शामिल हुई। सन् 1970 में पिताजी के एक साथी बंशीलालजी ने मुझे 'सुर-सिंगार कंपटीशन' में भाग लेने को कहा तब तक मैं मस्ती में सिर्फ़ धुनें ही बजाता था। राग-रागिनियों को कोई गंभीरता से नहीं ले पा रहा था। तब पिताजी ने मुझे राग यमन सिखाया, मंच पर प्रदर्शन सफल रहा लेकिन इसके बाद मैंने गंभीरता से बाँसुरी की साधना शुरू कर दी। सफ़र शुरू हुआ जो गुरु कृपा से आप सबके सामने है। रियाज़ कठिन किया। रियाज़ के बिना राग नहीं बनता।

नृत्य में ख़ासतौर पर संगतकारों की भूमिका के संदर्भ में कुछ बताएँ।

वैसे बाँसुरी तो संगीत का ही वाद्य रहा। स्वतंत्र रूप से यह शास्त्रीय जगत में बहुत बाद में जगह बना सकी। जब छोटा था तब स्कूलों में या कोई ग्रुप के साथ संगति के लिए जाता था। सच कहूँ तो मुझे संगति करना ख़ास तौर पर नृत्य के साथ पसंद ही नहीं आया क्योंकि मंच पर नर्तक प्रमुख हो जाता है और संगतकार का कोई महत्व नहीं दिखता तो दुख होता था। फिर चार-पाँच दिन तक उनके साथ मेहनत करो, प्रेक्टिस करो और पैसा भी कम मिले। इसलिए मैंने छोड़ दिया और दूसरे स्वतंत्र रूप से शास्त्रीय कार्यक्रमों में भी व्यस्त हो गया। अब यह मेरा मुख्य काम है, साधना है।

संगत का कोई विशेष प्रसंग बताएँ।

मुझे एक बार संगत न करने का अफ़सोस हुआ। अमजद अली ख़ां के जन्मदिन पर पं. बिरजू महाराज का कार्यक्रम था। उन्हें देखकर मुझे लगा संगति मुश्किल काम है। बंदिशों के बीच अपने साज़ को किस तरह इस्तेमाल करना है जो प्रभावी लगे। उस दिन मैंने उनके कार्यक्रम को देखकर बहुत सीखा, वे अद्‌भुत कलाकार हैं। मैंने उस्ताद हाफ़िज़ अली ख़ां से गाना सीखा पर मुझे गाना कभी सधा नहीं। 1974 में परवीन सुल्ताना को सुनकर मैं उनकी गायकी में डूब गया। पं. बिरजू महाराज, परवीन सुल्ताना और भी कुछ ऐसे कलाकार हैं जिन्हें मैं गुरु का दर्जा देता हूँ। जिनको देखकर, सुनकर सीखा और मेरी रुचि बढ़ी। मेरा परिष्कार हुआ।

आपने कई दिग्गज कलाकारों जैसे उमा शर्मा, भारती शिवाजी के साथ संगति दी है। आपकी कथक की कम्पोज़िशन को भी देखा है, कुछ इस बारे में बताएँ।

भारती शिवाजी के साथ जब मैंने भरतनाट्यम में बाँसुरी बजायी तो कहने लगीं कि आपने कर्नाटक शैली कैसे बजा ली। मेरा यह मानना है कि संगीत में मूल स्वर को बरज लिया तो फिर कोई शैली हो, संगीत तो संगीत है।

दरअसल मैंने कई टी. सीरीज़, टी.वी. धारावाहिक में संगीत दिया है। उस वक़्त का प्रसिद्ध धारावाहिक 'साँझा-चूल्हा' था जिसमें मेरा बनाया म्यूज़िक है। इन सबको सुनकर पं. राजेंद्र गंगानी ने मुझसे कम्पोज़िशन के लिए कहा। मैंने वसंत ऋतु पर संरचना की, जो बहुत सराहनीय रही और मुझे खुद को भी अच्छा लगा। इसके अलावा, आशा भोंसले, अनुराधाजी, गुलाम अली ख़ां, जगजीत सिंह जैसे कलाकारों के साथ मैंने कई कार्यक्रम किए। सबके साथ अनुभव मिले और सीख भी।

कोई भी विधा का कलाकार अपनी विधा को पूर्ण मानता है तो भी संगतकारों से ही वो विधा पूर्ण होती है और आनंद भी श्रोता तब ही लेता है। एक स्वतंत्र बाँसुरी वादक की संगति की भूमिका के विषय में आपका क्या कहना है ख़ासतौर पर कथक की संगत के बारे में?

जैसा मैंने कहा संगति करना कठिन काम है। उसके लिए रियाज़ दूसरे कलाकार के अनुसार करना होता है। आप नृत्य के लिए ख़ासतौर पर प्रश्न कर रही हैं। नृत्य में प्रमुख रूप से अन्य धार्मिक कथाओं के अलावा कृष्ण के कथानक पर आवश्यक रूप से अभिनय होता है। अब कृष्ण की कथाएँ हों और बाँसुरी ना हो? बाँसुरी ही एक ऐसा वाद्य है जो रसों का एहसास कराता है। सारंगी या सितार तो लहरे के लिए ही इस्तेमाल होते हैं। बाँसुरी से ही कथा का परिपाक होता है। भाव स्पष्ट होते हैं।

आप जब भी किसी कलाकार के साथ काम करते हैं तो कम्पोज़िशन में उनकी इच्छानुसार बजाते हैं या अपना ही पीस बजाते हैं?

सन् 1976 में 'ग़बन' के लिए जयदेवजी को राष्ट्रीय पुरस्कार मिला। वे मुंबई से दिल्ली आए। उनके साथ पिनाज़ मसानी, हरिहरण, छाया गांगुली, सुरेश वाडेकर भी थे। अशोका होटल में रिहर्सल थी। मैंने कहा जयदेवजी से क्या बजाना है। तो वो कहने लगे, आपको जो अच्छा लगे वो। मेरे दिमाग़ में तो था इतने बड़े म्यूज़िक डायरेक्टर ही म्यूज़िक बताएँगे। तब ही एक सीनियर म्यूज़िशियन गुलाटीजी ने बताया कि मुंबई में म्यूज़िक डायरेक्टर सिर्फ़ कम्पोज़िशन करता है। अरेन्जर म्यूज़िक बनाता है। संगतकार अपने अनुभव, ज्ञान और कम्पोज़िशन को समझकर पीस सृजित करता है। सो मैंने अपना बजाया जो पसंद किया गया और अब तो इतिहास का सुनहरा पन्ना है।

आपने विदेशों का भ्रमण किया और बड़े-बड़ों के साथ संगत की। कुछ यादें कुछ अनुभव ज़रूर होंगे?

सन् 2002 में अल्बर्ट हॉल अमरीका में, मैंने पं. रविशंकरजी के साथ बजाया। मैं, विश्वमोहन भट्ट, अनुपमा थे। मैंने देखा जब रविशंकरजी हॉल में आए तो वहाँ लोगों ने खड़े होकर तालियाँ बजाईं। वो वक़्त आज भी मेरी स्मृति में रहता है कि हमारे भारत के कलाकार को सम्मान अपनी कला से मिला। उन्होंने कितना काम किया, नाम कमाया। इसी वजह से हमको भी जगह मिली।

इसके अलावा पं. रविशंकरजी का कितना और कैसा सान्निध्य मिला?

1982 में पंडितजी ने मुझे रिम्पा में बजवाया। वे मुझे अपना शागिर्द भी बनाना चाहते थे परंतु घर से अनुमति नहीं मिली। सन् 2000 में संगीत नाटक अकादमी के कार्यक्रम में उनके सामने मेरा नाम लिया गया, वे मुझे बाँसुरी वादक के रूप में जानते थे। मालूम होने पर उन्होंने मुझसे शहनाई ही बजवाई। उसके बाद तो उनके साथ कई कार्यक्रम में रहने का मौक़ा मिला, उनका बहुत प्यार, आशीर्वाद मिला और उनसे भी बहुत सीखा। उनमें विलक्षण संगीत कला थी।

और कौन-कौन से कलाकार हैं जिनसे आप ख़ास प्रभावित हैं?

अपने पिताजी एवं चाचा से तो बहुत प्रभावित हूँ। इसके अलावा किशन महाराज, हरिप्रसाद चौरसिया जैसे महान कलाकार हैं जो पूज्यनीय हैं। पं. बिरजू महाराजजी हैं अद्‌भुत सर्जक। वो बाबा अलाउद्‌दीन ख़ां के बाद ऐसे कलाकार हैं जो नृत्य के साथ गायन-वादन में पारंगत हैं। शहनाई, बाँसुरी, वायलिन, पखावज, तबला के उस्ताद हैं। इनके अलावा बिस्मिल्लाह ख़ां, अमजद अली ख़ां, देबू चौधरी जैसे कलाकार मेरे लिए गुरु तुल्य हैं। इन्होंने संगीत को, नृत्य को नया आयाम, नया जीवन दिया।

आप कार्यक्रमों में ज़्यादातर कठिन रागों को ही बजाते हैं। ललित, विलासखानी तोड़ी, गोरख-कल्याण, मालकौस जैसे राग बाँसुरी के लिए कठिन हैं पर आप बहुत ख़ूबसूरती से कैसे बजाते हैं?

दरअसल मेरे पिता ने मुझे कठिन राग ही सिखाए। इसलिए मेरी पसंद में भी यही राग हैं, मुझे श्री राग बहुत पसंद है। राग यमन मेरे दिल के सबसे क़रीब है। वो राग बाँसुरी के लिए ही बना है। छः स्वर, छः छेद बाँसुरी के। अद्वितीय स्वर अनुभव होता है, बताना मुश्किल लगता है।

पृष्ठ 50 पर जारी..

● दो कविताएँ : **शरद रंजन शरद**



विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित। एक कविता-संग्रह प्रकाशित। पिछले 35 वर्षों से साहित्य-लेखन और पत्रकारिता में सक्रिय। रंगमंच, दूरदर्शन तथा आकाशवाणी से भी संबद्ध।

अनन्तिम

सभ्यता के औंधे पड़े शिखरों पर
दीवारें उठतीं जिधर
एक ईंट भर छोड़ देता जगह
और रंग-रोगन होने पर भी
ढाँपता नहीं उसे
ताकि हर हाल में बनी रहे
बने रहने की वजह

चुनवा दिए जाने के बावजूद
झाँकती रहेंगी आँखें
कोई सूरत होगी तो कोशिश भी
दरवाज़े खिड़कियों के लिए
सोच-विचार की होगी आवाजाही
तो किसी तरह निकलेगी राह

लोगों के बीच गहराती खाई
और धरती के खंडहरों में
रखता नेक आत्मा का जीवाश्म
इस तरह कि जब पड़े
आलीशान इमारतों की नींव
घुटनों तक भर जाए
सच और सपने की राख
तब भी सुनाई पड़े वह आवाज़

दुनिया के सारे संकेतों ध्वनियों
बोलियों भाषाओं से चुनता
एक स्वर जो रहता सबमें
सबसे कहता सबकी सुनता
जब रचा नहीं जा सकेगा कुछ भी
और सर्वाधिक ज़रूरत होगी उसी की
सबके भीतर का बच्चा
जोड़ता रहेगा अक्षर
ऐसा बड़ा बाज़ार
और दुनिया इतनी छोटी
कि कहाँ पता चलेगा
किधर हैं घर की सीढ़ियाँ
जहाँ शोर में चुहल कभी चीख़
फिर मिलने और मारने का

फ़र्क़ है बस हर्फ़ भर
माटी का चीर हरकर
हवा को अंगूठा दिखाने वाली
इस बदहवास रफ़्तार में,
शुक्र है कुछ आँच और जल
बचा हुआ अक्षत

जहाँ बढ़े हाथों के साथ होगा
मन से मिलने का भरोसा
और उठेंगे दुराव से बचे क़दम
वहाँ ज़रूर रहेगा रिश्ता
आदमी से आदमी का
ताक़त भी होगी खरा उतरकर
देर तक साथ चलने की

घनघोर निस्तब्ध रात में
बिल्ली के तलवे बाँधे
आएँगे आत्मा के चोर
चौकन्ने होंगे इतने
कि समय की पलक झपकते ही
सब समेटकर निकल भागे
लेकिन कुछ नहीं सूझने वाले पल में
रखी है गुंजाइश छिनते छूटते
बचाए रखने की बची हुई लौ

सूरज भी लाल-पीला होकर
कभी जमकर उधड़ेगा सेमल-सा
अंतरिक्ष में फूटेंगे खिंचते बुलबुले
आकाशगंगा से जब छूटेगी नाव
यह कहकर कि फिर भोर नहीं
तो बस आख़िरी बार
और माना कि सच में
सपने की तरह छूट ही गया
तो भी क्या जो चाहें जाएँ उस पार
मैं तो खुले श्यामपट पर
शेष किरणों की लेखनी से
करते अनन्तिम कविता का अभ्यास
करूँगा एक और सुबह का इंतज़ार!

***संपर्क** : विवेक विहार, हनुमान नगर, पटना-800020 मो. 7319880575*

नि:शेष नहीं

पुरखों के लगाए पेड़ों के फल हम खा रहे
और वे भी खाएँगे जो होंगे आगे
सूखेंगे तो मिट्टी में मिलकर
पुरावशेषों की तरह हरदम
रहेंगे कुछ न कुछ जड़ चेतन से लगे
समय के साथ और बाद के अवलंब

उचकते पहाड़ बनाते रहेंगे सीढ़ियाँ
जिन पर चढ़ते-उतरते देखा करेंगे
ग्रहों नक्षत्रों के रोशन बदन
आकाशगंगाओं के हृदय गहरे
बचेंगे बाद में डीह ही सही
रखेंगे फिर भी साफ़-सुथरा मन

नदियों नहरों सागरों के साथ
जुड़ती रही सृजन धाराएँ
उन्हीं के किनारे जलती संस्कृतियाँ
भरी जवानी में पहुँची सभ्यताएँ
आज वे उथली हो रही तो
रहेगा पानी झपकती आँखों में

पत्थरों की रगड़ से निकली चिनगारी
बची हुई अबतक भीतर बाहर
संततियाँ जो आएँगी सूर्य के जाने पर
जलाएँगे जो आएँगी सूर्य के जाने पर
जलाएँगी इसी से चिराग़
ताकि बुझे नहीं भरोसे की लौ

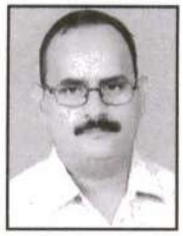
हवा राह लगने के साथ
पहुँची पहले प्राण और वायु के साथ
तब से जल रही साँस दर साँस
और धीरे-धीरे विरल होने पर भी
रहेगी जबतक आसमानी छतरी

यह आशा विश्वास या अनुमान भर रहे
मगर जगत से जुड़ा था है और रहेगा
इतना कुछ तो बल मिलता
जीवन की नोक को
जो इस खुली लेखनी की भी है
और बची रहती सोच कि विचार रहेगा
बहा ले जाती धारा के विरुद्ध

नहीं होने पर भी रह जाती ख़ाली सिफ़त
टेक होती सफ़र और चढ़ाइयों के साथ
बूँदें आँखों में निर्वात चोट करते झोंके
दिलों से हथेलियों तक गर्माहट

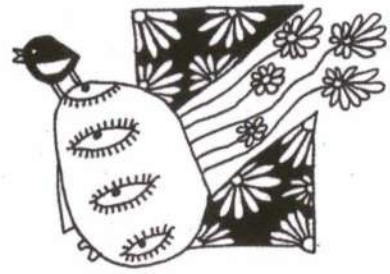
तो क्या बदल पाएगा अपना होना न होना
सुबह होगी और झलकेगा पंखुड़ियों पर
रात खुली आँखों का सोना। ❑

● सात कविताएँ : **राकेश मिश्र**



जन्म : 30 नवंबर, 1964, बलिया (उ.प्र.)। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित। तीन कविता-संग्रह प्रकाशित। संप्रति : भारतीय प्रशासनिक सेवा के उत्तर प्रदेश से संबद्ध।







हर कविता

हर कविता
एक मोती होती है
हर कविता
बनती है
मोती की तरह
आत्मरक्षार्थ!
हर कविता
मानवीय चेतना में मौजूद
घुसपैठियों के विरुद्ध
एक सार्थक
सुरक्षा-पंक्ति है!

प्रेम

जब तुमने कहा
सब कुछ छोड़ देना है
मुझे समझ लेना चाहिए था
तुम प्रेम में हो
मैं, ईश्वर, यह सृष्टि
और स्वयं तुम
प्रेम
कुछ भी रहने नहीं देता!

पुष्प प्रदर्शनी

फूल भी
जीतते-हारते हैं
प्रथम-द्वितीय-तृतीय
ईश्वर भी होता होगा
कम सुंदर-सुंदर अतिसुंदर।

अँधेरे की कविता

बासी खाना भी
किसी न किसी की
भूख मिटाता है
सड़ा माँस भी
कोई न कोई
खा जाता है
अँधेरों का इंतज़ार
कइयों को रहता है
अँधेरा
किसी-न-किसी को
खाता है
रोशनी के झरोखे
हर ओर हों
ज़रूरी नहीं
अँधेरा
अपनी जगह ही
आता है।

सपने

सपने ही
जगाकर रखते हैं
जीवन की अलख
वरना आदमी
कब का मर गया होता
नींद में।

सड़क का कुत्ता

सड़क का कुत्ता
दिन में कई बार
सूँघता है
वह ज़मीन
जहाँ खाना मिला था
पिछले दिन
सड़क का कुत्ता
हर रोज़
साधता है
साम्यावस्था
भोजन और भूख की।

कथा

कहूँगा
मैं
एक दिन
दुःख की कथा
सतरंगी
सघन
सुख जैसी। ❑

***संपर्क** : 538 क/90, विष्णु लोक कॉलोनी, मौसम बाग, त्रिवेणी नगर-2, सीतापुर रोड, लखनऊ-226020 (उ.प्र.), मो. 9205559229*

● चार कविताएँ : **पुरु मालव**



जन्म : 5 दिसंबर, 1977 बाराँ (राजस्थान)। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं एवं संकलनों में रचनाएँ प्रकाशित। एक ग़ज़ल-संग्रह प्रकाशित। संप्रति : अध्यापन।

यह समय

मैंने समझा था कि
दुनिया मेरे साथ ही पैदा हुई है
और अभी-अभी इसमें
रंग भरना शुरू हुआ है
अभी-अभी फूल खिले हैं
अभी-अभी उगी है नर्म-मुलायम घास
अभी-अभी चली है ताज़ा हवा

जबकि मेरे जन्म से पहले ही
कई बार फूलों को मसला गया था
कठोर हाथों से
कई बार बूटों से रौंदी गई थी कोमल घास
कई बार हवा में विष घोला जा चुका था

इससे पहले कई-कई बार
बदरंग हो चुकी थी दुनिया
लड़े जा चुके थे कई अनंतिम और
अनावश्यक युद्ध
इससे पहले कई बार बर्बरता के तलुओं से
मानवता कुचली गई थी

किंतु यह समय इतिहास पर घिन्न
प्रकट करने का नहीं है
और न ही वर्तमान पर क्षोभ जताने का है
यह समय भविष्य को बचाने के प्रयासों का है।

बाप-बेटियाँ

बापों के प्राण बेटियों में बसते हैं
और बेटियाँ बापों पर जान छिड़कती हैं
बेटियों का प्यार ही ठूँठ-से बापों को
हरा-भरा रखता है



बाप किस तरह फफक-फफक कर रोते हैं
बेटियों की विदाई पर
चट्टानें कैसे टूटती हैं, झरने कैसे बहते हैं
किस तरह बाप बच्चे बन जाते हैं
किस तरह बच्चियाँ बड़ी हो जाती हैं

बेटियाँ जानती हैं उनके आने के बाद
बापों का अकेलापन कितना बढ़ गया है
और अब जबकि माइयाँ भी स्वर्ग सिधार
चुकी हैं
बाप क्या करते होंगे
बापों का दर्द बेटियों की आँखों में उभरता है

बाप बेटियों की विवशता समझते हैं
बेटियों की पीड़ा बापों के चेहरों पर
झलकती है

बेटियाँ पत्थर दिल बापों की रगों में
अंत: सलिला बन कर बहती हैं

कैसे खाटों पर पड़े बीमार बूढ़े बाप
बेटियों के आते ही हुलस कर बैठ जाते हैं।

कोना

हर घर में एक अँधेरा कोना ज़रूर होता है
जहाँ लोगों का आना-जाना कम ही रहता है

जहाँ बच्चे कभी खेल-खेल में छुप जाते हैं
तो कभी रूठ कर
और कभी बड़े-बूढ़ों की डाँट-डपट से बचने
की ख़ातिर यह जगह सुरक्षित लगती है

इसी कोने में होता था
तुम्हारी गुड़िया का ब्याह
और इसी कोने में खुलता था
मेरी जेबों का ख़ज़ाना

छियापताई खेलते-खेलते
इसी कोने में तो छुपा था मैं
तुम्हारी बाट जोहते-जोहते मुझे नींद लग गई
और तुम खो गई दूसरे खेलों और कामों में

कहाँ-कहाँ नहीं ढूँढा गया मुझे
घर-द्वार, खेत-खलिहान, कुआँ-बावड़ी,
नदी-नाला
बस इसी कोने में नहीं देखा किसी ने
फिर मैं ही नींद टूटते ही उठकर चला आया था
सबके बीच किसी अजूबे की भाँति

घर भर का झाड़ू बुहारती माँ दम भर
के लिए इसी कोने में आकर रुकती है
और इसी कोने में उसकी आँखों से उबलते
आँसू टप-टप गिरने लगते हैं
पिताजी भी इसी कोने में आकर रोए थे
तुम्हारी विदाई के वक़्त

यह कोना सुख-दु:ख का थानक है
यहाँ स्मृतियों के भगवान विराजते हैं।

इससे पहले भी

धरती को वीरों ने भोगा है
हमने तो बस पसीना बहाया है
वीरों के हाथों में तलवारें थीं
हमारे हाथों में कुदालें थीं
इससे पहले भी हम रहे हैं धरती पर
हमें कभी हथियार बनाया गया कभी ढाल

शस्त्रों के अनुपात में बढ़ी हैं भुजाएँ
या भुजाओं के अनुपात में शस्त्र गढ़े हैं
मैं तुम्हें जब भी शीश नवाता हूँ
एक आशंका सदा बनी रहती है
शस्त्र थामे तुम्हारा कोई हाथ मेरी गर्दन पर न
गिर जाए

कई रंगों में सजती है सुबह
कई रंगों में शाम ढलती है
कई रंगों में खिलते हैं फूल
कई रंगों में हँसी बिखरती है
एक ही रंग में क्योंकर धरती रंग जाए
धरती के अपने रंग हैं
और धरती अपने रंग कभी नहीं छोड़ती। ❑

***संपर्क** : कृषि उपज मंडी के पास, अकलेरा रोड, छीपा बड़ौद, ज़िला-बाराँ-325221 (राजस्थान) मो. 9928426490*

● कहानी

घनिष्ठ-अपरिचित

रश्मि शर्मा



विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कहानी, कविता, लेख, यात्रा-वृत्तांत, बाल कथा, हाइकु इत्यादि प्रकाशित। तीन कविता-संग्रह 'नदी को सोचने दो', 'मन हुआ पलाश' और 'वक़्त की अलगनी पर' प्रकाशित। संप्रति : लेखन एवं स्वतंत्र पत्रकारिता।

रात फिर चीख़ कर उठ बैठा मैं। दो बजे थे और गहरी नींद में डूबा था। पापा पलंग के किनारे खड़े हो धीरे-धीरे मुझे छू रहे थे।

"क्या हुआ पापा?"

"घर में घुस आया है कोई..." पापा की आवाज़ में एक भयमिश्रित हड़बड़ी थी।

"कोई नहीं है पापा, आप जाकर सो जाइए।"

"मैंने परछाईं-सी देखी उसकी, बाहर बरामदे पर। चलो न! देख लो एक बार।"

"नहीं है पापा, आप प्लीज़ जाकर सो जाइए।" नींद में पड़ी ख़लल मेरी आवाज़ में खीज बनकर उतरी थी।

ये दूसरी बार हुआ है कि रात को दरवाज़ा बंद करके सोने लगा हूँ। मुझे आदत नहीं, कि रात को कमरे का दरवाज़ा अंदर से बंद रखूँ। घर में माँ-पापा के अलावा कोई और नहीं था। बहनें शादी कर के ससुराल चली गईं। मेरी भी शादी हो गई अब तो, मगर पत्नी कुछ दिनों के लिए बाहर गई है तो सोचा, खुला ही रखूँ दरवाज़ा। होना तो चाहिए था कि जब से पत्नी के साथ हूँ, हम दरवाज़ा बंद करके ही सोएँ, मगर मेरा कमरा ऊपर की मंज़िल पर है और माँ-पापा नीचे की मंज़िल पर रहते हैं... और ऐसा भी नहीं कि यह कोई नया-नया इंतज़ाम है, सो...

घर में केवल हम तीन भाई-बहन थे तब भी माँ-पापा का कमरा नीचे ही था। निचले तल पर रसोई है और पूजा घर भी। अपने मकान का यह फ़ायदा होता है कि आपको फूल-पत्तों के लिए जगह भी मिल जाती है। फिर आने-जाने वालों को भी सहूलियत होती है। तब की बात और थी। घर भरा लगता हमारी धमा-चौकड़ी से और हम सब नीचे ही रहते। ऊपर के कमरे किसी गेस्ट के आने पर ही खुलते। मगर वही घर अब हमारे लिए बहुत बड़ा महसूस होता। बढ़ती उम्र के साथ माँ के घुटनों के दर्द ने उन्हें मजबूर कर दिया कि सारे काम निचले तल्ले पर ही निपटा लें। धूप के लिए बाहर खुली जगह है ही जहाँ फूल लगे हैं। माँ कहती हैं कि उनके लिए बाग़ीचा ही सुकून की जगह है पूरे घर में।

सब कुछ ऐसा ही चलता रहता, अगर उस दिन ये 'कांड' न हुआ होता। कांड थोड़ा अजीब लगता है सुनने में मगर इसे बताने को कोई और उचित शब्द नहीं मिल रहा। देर रात हम दोनों गहरी नींद में थे। सोनल की नींद खुल गई अचानक। उसने देखा कोई हमारे पैर के पास खड़ा हुआ घूर रहा है। पहले तो लगा कि उसे धोखा हुआ है या कि हल्की रोशनी के कारण किसी इंसान के होने का भ्रम हो रहा है। कहती है कि उस दो मिनट में अंदर उसे भूत-जिन्न की सारी सुनी कहानियाँ याद आ गईं और डर के मारे थर-थर काँपने लगी। शायद बेहोश ही हो जाती, मगर उसके पहले मुझे उठाने का प्रयास सफल हो गया था। लगातार हिलाने से मेरी नींद खुल गई।

कोई खड़ा था। चोर या लुटेरा, जो भी हो, मैंने लपक कर बत्ती जलाई तो देखा, पापा थे। मैं स्तब्ध कि रात के इस पहर में वो हमारे कमरे में क्या कर रहे हैं। उनका चुपचाप हमें इस तरह देखना वह भी तब जबकि सोनल मेरी बग़ल में है, मुझे बुरा लगा...। मैंने तल्ख़ी के साथ कहा था- "पापा, आप क्या कर रहे हैं यहाँ?"

उन्होंने झट से काँपते हाथों से मेरे मुँह पर हाथ रख दिया..." श..श...चुप रहो। किचन में कोई घुस आया है। सब ले जाएगा चुराकर। शोर मत करो। चुपचाप मेरे साथ चलो।"

असमंजस की स्थिति में मैं नीचे गया। वहीं पास के स्टोर रूम से हाथ में एक मज़बूत लाठी भी पकड़ ली कि कोई दिखे तो आज उसे छोड़ना नहीं है। दबे क़दमों से मैं, मेरे पीछे-पीछे सोनल और उसके पीछे पापा... हम धीरे-धीरे सीढ़ियों से नीचे उतरते हुए चौकन्ने भाव से चारों तरफ़ ताक रहे थे।

कोई नहीं मिला, सारा घर छान मारा। पापा को समझाया कि उनको वहम हुआ होगा। मगर वो ज़िद पर अड़े रहे कि वह आदमी अभी भी घर के कोने में कहीं छुपा बैठा होगा। माँ हैरान-परेशान सी चहलक़दमी कर रही थीं। बहुत मुश्किल से उन्हें उनके कमरे में लिटाकर लौट आया।

सोनल उखड़ी-सी थी।

"पापा को ज़रा भी सलीका नहीं। कोई बेटे-बहू के कमरे में इस तरह चुपचाप आकर खड़ा होता है क्या?"

"उन्हें चोर घुस आने का वहम हुआ, इसलिए आए थे।"

"तो कमरे में आने के पहले दरवाज़ा नॉक कर सकते थे या तुम्हें आवाज़ देकर ही बुला लेते। कोई इस तरह बेधड़क घुसता है क्या?"

पापा का इस तरह आकर चुपचाप खड़े रहना मुझे भी अखर रहा था। सोनल को शांत करने के लिए कहा- "ठीक है, कल से दरवाज़ा अंदर से लॉक करके सोएँगे।"

बात ख़त्म हो गई और रोज़ वाली दिनचर्या शुरू हो गई। मैं नियम से अपनी फ़ैक्ट्री चला जाता और सोनल अपने बुटीक। बेटा प्रेप में है। स्कूल से घर लौटता तो माँ उसकी देखभाल कर लेतीं। सोनल सुबह घर का सारा काम निबटाकर ही जाती थी, ताकि पीछे से माँ को ज़्यादा परेशानी न हो। सब कुछ व्यवस्थित रूप से चल रहा था... जीवन अपने ढर्रे पर था... सबकुछ नपा-तुला।

उस घटना के कुछ दिनों के बाद की बात है। मैं फ़ैक्टरी में काम में उलझा था कि घर से माँ का फ़ोन आया- "एक गेहुंवन साँप बाग़ीचे से होते हुए घर में घुस आया है। जल्दी न निकाला गया तो कुछ अनहोनी हो सकती है।"

***संपर्क** : रमा निसिंग होम, मेन रोड, राँची-834001 (झारखंड)*
मो. 9204055686

"किसने देखा? आपने?"

"तुम्हारे पापा ने...पूरा घर उलट रहे हैं.."।

स्थिति की गंभीरता को समझते हुए दो-तीन स्टाफ़ को साथ लेकर मैं भागा घर की ओर। ड्राइंग रूम में सोफ़े पर पैर चढ़ाकर माँ बैठी थीं और उनसे लिपटा, डरा हुआ गौरव... डर की परछाइयाँ उनके चेहरे पर नाच रही थीं। पापा हाथ में लाठी लेकर झाँक-झाँककर कभी पलंग के नीचे देखते तो कभी परदा उठाकर उसके पीछे तो कभी घर के कोने में झाँकते। पिछले कुछ सालों से उनसे सीधा खड़ा नहीं हुआ जा रहा था और अभी हाथ में पकड़ी लाठी की कँपकपाहट साफ़ दिखाई दे रही थी।

मैंने उन्हें पकड़कर बिठाया। "मैं देखता हूँ... आप आराम से बैठिए पैर ऊपर करके।"

घर का एक-एक कोना छान मारा। मगर कहीं कोई साँप होता तब न मिलता। साथ आए सभी स्टाफ़ ने भी तसल्ली कर ली, मगर पापा का वहम समाप्त ही नहीं हो रहा था।

पापा अपने रिटायरमेंट के बाद से बहुत अकेलापन महसूस करने लगे थे। कॉलेज में पढ़ाते थे। मैंने कहा था उस वक़्त कि आप पार्ट टाइम के लिए फ़ैक्ट्री आ जाइए। नहीं तो घर पर ट्यूशन ही ले लिया कीजिए। पूरी ज़िंदगी काम किया है, अब इस तरह अचानक घर पर बैठना ठीक नहीं। मगर मेरी बात उन्होंने कब मानी थी जो तब मानते। वे हमेशा से ऐसे ही हैं, अपनी धुन के पक्के। कभी गिटार सीखने के नाम पर मेरे बदन पर छड़ियाँ तोड़ दी थी उन्होंने और छोटी के पेंटिंग शीट के छोटे-छोटे टुकड़े कर फेंक दिए थे। हम सब उनकी मर्ज़ी के गुलाम थे, माँ भी।

इतनी पाबंदी थी ज़िंदगी में कि जीवन बोझ लगने लगा। माँ भी पिता के ही रंग में रंगी थीं उन दिनों जैसे। अक्सर जी करता, घर से भाग जाऊँ और कभी न लौटूँ। दो बहनें हैं मुझसे छोटी, मगर उनकी सारी उम्मीदें केवल मुझसे जुड़ी थीं। शादी के पहले भी उनकी ख़्वाहिशों और पिता के बीच ढाल का काम करता था मैं। अब भी उनके बीच बातचीत का सेतु मैं ही हूँ। कभी-कभी लगता है कि ये कैसी ज़िंदगी जी रहा हूँ मैं? क्या मेरा जन्म सबकी उम्मीदों को पूरा करने के लिए ही हुआ है?

बहनों की शादियाँ हो गईं। वो फ़ोन करती हैं अक्सर, मगर यहाँ आने के नाम से बहाने बना लेती हैं। उनका मानना है कि मायके से ज़्यादा आज़ादी और सुख ससुराल में है। लिहाज़ा मैं अकेला पड़ जाता हूँ कई बार। हाँ, अब सोनल है मेरे साथ, मेरे सुख-दुख की हिस्सेदार।

लगभग चार साल पहले की बात है। पापा के रिटायरमेंट के भी चार-छह साल गुज़र गए थे। उस रोज़ पापा के हाथ से शर्बत का गिलास गिर कर टूट गया। कुछ लोग आए थे मिलने। उन्हें बेहद शर्मिंदगी महसूस हुई। तब मुझे बताया माँ ने कि आजकल पापा के हाथों की पकड़ कमज़ोर हो गई। हमेशा हाथ से कुछ न कुछ छूट जाता है। कई बार तो हाथ इतनी तेज़ी से कांपने लगता है कि कमीज़ के बटन लगाने में भी परेशानी होती है।

हमें लगा कि पापा लापरवाह हो रहे हैं या अकेले रहते हुए अब कुछ नहीं मिलता डाँटने के लिए तो हमलोगों का अटेंशन खींचने के लिए यह करते हैं। माँ का भी कुछ ऐसा ही अनुमान था। पापा की आदतों को समझते-सहते इतने बरस निकालने के बाद भी कभी-कभी माँ बहुत ऊब जाती हैं। उनकी हरकतों से। एक दिन कहने लगीं, "पूरा जीवन इनके इर्द-गिर्द घूमते हुए और सब कुछ इनकी इच्छानुसार करते बिता दिया। तब तुम बच्चे साथ थे तो, उतना अखरता नहीं था। मगर इनकी ज़िद ने बेटियों को भी दूर कर दिया इस घर से। रिटायरमेंट के बाद चौबीसों घंटे नहीं झेला जाता अब। मगर कहाँ जाऊँ?" उस दिन माँ की आँखों में पसरे सूनेपन को देखकर महसूस हुआ कि पापा के होते हुए भी कितनी अकेली हैं वो। शायद इसलिए वो हर शाम मंदिर कीर्तन के लिए चली जाती हैं।

इधर पापा बहुत चुपचाप रहने लगे हैं। पापा की लंबाई छह फ़ीट से ऊपर है, मगर इन दिनों झुककर चलते हैं और कई बार लड़खड़ा भी जाते हैं। एक दिन हम सबके सामने ड्राइंग रूम में चलते-चलते गिर पड़े। उन्हें दाहिने कंधे में चोट आई थी। खाना-पीने में भी किसी की सहायता की ज़रूरत होने लगी। मैंने पाया कि जो सोनल उनसे कोई दूरी नहीं रखती थी, अपने पिता की तरह ही उनसे चुहल भी कर लेती थी, उस रात की घटना के बाद एक खिंचाव आ गया था उसके मन में। जितना कम हो सके, उतना ही मतलब रखती अब वो पापा से।

चोट ठीक होने के बाद भी उनकी चाल में लड़खड़ाहट बाक़ी रही तो लगा, अब डाक्टर को दिखाना ज़रूरी हो गया। इस तरह गिर पड़े किसी रोज़ और ज़्यादा चोट लग गई तो मुश्किल होगी।

पार्किन्सन है उन्हें, ऐसा डाक्टर ने बताया। इस बीमारी में माँसपेशियाँ कड़ी हो जाती हैं, जिस कारण दैनिक कार्य में दिक़्क़तें आती हैं और हाथ भी काँपता है लगातार। जब से यह पता लगा वो और चुप हो गए हैं। इन दिनों उनके चेहरे से कुछ नहीं झलकता, न प्रेम न गुस्सा... हर काम धीरे-धीरे करते हैं। माँ गठिया के दर्द से अलग परेशान रहती हैं।

फिर भी काम चल रहा था। घर पर ही धीरे-धीरे ज़िंदगी कट रही थी। माँ हैं, इसलिए हमें उतनी देखभाल करने की ज़रूरत नहीं पड़ती, मगर दिन-रात उनके पीछे-पीछे घूमते रहने के कारण माँ भी झल्लाने लगी हैं इन दिनों।

इधर चोर वाला वाक़या कई बार हो गया। हमेशा लगता उन्हें कि कोई घुस आया है घर में। आधी रात को उठकर तलाशना शुरू करते। अब ऊपर नहीं आते मगर माँ को नींद से उठाकर साथ-साथ चोर ढूँढते। कई बार मेरे दरवाज़े पर खड़े होकर धीरे से खटकाते, मगर मैं अनसुना कर देता। सोनल कई बार बड़बड़ाती, "न खुद सोते हैं न किसी को सोने देते हैं।" तब मैं चाहकर भी उसके बग़ल से उठकर पापा को सुलाने या समझाने नहीं जा पाता।

खटपट रोज़ रात की बात हो गई और माँ बुरी तरह तंग होने लगीं तो उनको ले गए फिर डाक्टर के पास। डाक्टर ने कहा, "पार्किन्सन का साइड इफ़ेक्ट है भूलना और भ्रम होना। इसका कोई इलाज नहीं।" उदास ओर चिड़चिड़े तो पहले ही हो गए थे, अब रात-रातभर चोर तलाशते और सारे कमरे खोल-खोलकर झाँकते।

उस दिन प्लांट में ब्रेक डाउन हो गया था। मैं उसी में व्यस्त था कि दो फ़ोन आए। एक सोनल का और दूसरा पापा का। सोनल की आवाज़ भर्रायी हुई थी, "जितनी जल्दी हो सके आइए। अब और बर्दाश्त नहीं होता मुझसे।"

"क्या हुआ है, कुछ बताओ तो?"

"आपको कहा न, आइए" ऐसी ज़िद नहीं करती सोनल। थोड़ी चिंता हुई। किसी कस्टमर से कोई परेशानी या फिर गौरव ने तंग किया होगा। क्या... सोच नहीं पा रहा था और इधर प्लांट का प्राब्लम। तभी पापा का भी फ़ोन आया-

"बहुत ज़रूरी बात है, जल्दी आओ"।

मैं घबरा गया। काम अधूरा छोड़कर जा नहीं सकता था। नुकसान होता। कुछ देर बाद गया तो पापा सर पर हाथ दिए चिंतित मुद्रा में बैठे थे। सोनल वहाँ नहीं थी। शायद ऊपर अपने कमरे में रही हो।

"क्या हुआ पापा?"

"बेटा, सोनल मुझे मारना चाहती है।" पापा भयभीत निगाहों से मेरी तरफ़ देख रहे थे।

"क्या कह रहे हैं आप? होश में तो हैं?"

"हाँ, सच कह रहा हूँ सौरभ..." पापा की काँपती आवाज़ का भय और गाढ़ा हो आया था... "आज एक आदमी आया था, जिससे सोनल बात कर रही थी। मुझे लगता है वह मरवाना चाहती है मुझे।"

"पापा, आपको ज़रूर ग़लतफ़हमी हुई है। सोनल भला ऐसा क्यों

करेगी। मैं बात करता हूँ उससे। आप निश्चिंत रहिए। माँ कहाँ हैं?"

"वो घर पर नहीं, मंदिर गई है...तभी तो उसने सारा प्लान किया है।"

पापा को दिलासा देकर ऊपर पहुँचा तो सोनल की सूजी आँखें गवाही दे रही थीं कि बहुत देर तक रोई है वो।

"मैं दुश्मन हूँ क्या उनकी? बताइए आप... मैं पापा को मारूँगी या किसी से मरवाऊँगी? कितना ग़लत इल्ज़ाम लगा रहे हैं मेरे ऊपर। इतने सालों तक अपने पिता की जगह उनको रखा और जितना बन सका किया। यही सिला मिल रहा मुझे।" कहते हुए फिर रोने लगी।

"तुमने कुछ कहा था क्या उनसे?"

"नहीं, कुछ भी नहीं कहा। बुटिक से लौटने में देर हुई। एक ग्राहक को आज ही डिलीवरी देनी थी। वह वहाँ नहीं आ पाया तो मैंने फ़ोन पर घर का पता देकर कहा कि मैं कपड़े घर ले जा रही हूँ। जब सुविधा हो, यहीं से कलेक्ट कर लें। माँ घर पर नहीं थीं। पापा को चाय के साथ मखाना भून कर दिया और गौरव को दूध का गिलास पकड़ाया। तभी उस कस्टमर का फ़ोन आया तो मैं सामान लेकर गई और बाहर ही पेमेंट लिया। पापा जाने कब से देख रहे थे सब। लौटते ही "कौन है, क्या है", पूछना शुरू कर दिया। बताया उन्हें कि पुराना क्लाइंट था पर मेरी बात न सुनकर हाथ के पैसे को घूरने लगे। कहा- "सुपारी देने के लिए पैसे निकाले हैं। मुझे मरवाओगी। रुको सौरभ को अभी बताता हूँ।"

सोनल की आवाज़ में घुले आँसू धीरे-धीरे रोष में बदलने लगे थे. .. "मेरा दम घुटने लगा है यहाँ। मैं अब नहीं रह सकती इनके साथ..."।

मैंने कातर आवाज़ में सोनल को समझाने की कोशिश की- "पापा बीमार हैं सोनल! उनकी बातों को दिल से नहीं लगाया करो। दवाएँ चल रही हैं, सुधार होगा। हमें ही देखना है उन्हें, हमारे अलावा उनका है ही कौन?" बिना कोई जवाब दिए सोनल पैर पटकते हुए बाहर चली गई थी। दरवाज़ा भड़ की आवाज़ के साथ बंद हुआ।

ऐसे दृश्य अब घर में आम हो गए हैं। जब से रात को पापा कमरे में आए हैं, सोनल सामान्य नहीं हो पाई है। थोड़ी दूरी बरतने लगी है। पापा इस बात-बर्ताव को इस तरह लेने लगे हैं कि सोनल उन्हें पसंद नहीं करती। वैसे भी उन्हें सारी बातें याद कहाँ रहती हैं। अजीब उलझन में फँसा हूँ। पापा को समझा नहीं सकता और सोनल को कैसे समझाऊँ समझ नहीं पा रहा...।

उस रात किसी ने खाना नहीं खाया। हमारे बीच तेज़ी से पाँव पसार रहे तनाव ने रात का रंग और स्याह कर दिया था... हमेशा से ज़िद्दी और अपनी मर्ज़ी के मालिक पापा को कुछ भी समझा पाना मुश्किल था.. अपने स्वभाव के विपरीत धैर्य के साथ सोनल की मिन्तें करते हुए मैं किसी तरह दिन गुज़ार ही रहा था कि एक दिन छोटे बहनोई का फ़ोन आया।

"भैया, ये क्या सुन रहा हूँ। भाभी पापा को मरवाना चाहती है। ठीक है, पापा बीमार हैं मगर ऐसा तो कोई नहीं करता। बूढ़े माता-पिता बोझ बन गए हैं आप लोगों पर।"

"ये सब किसने कहा आपसे?" मैंने किसी तरह खुद को नियंत्रित किया था।

"पापा का फ़ोन आया था। उन्होंने खुद बताया कि सोनल पसंद नहीं करती उनको और चाहती है कि उनकी जल्दी मौत हो जाए।"

मैं आपा खो देता, मगर रिश्तों का लिहाज़ है, इसलिए खुद को संयत रखते हुए बताया कि पर्किन्सन के कारण डिमेंशिया भी हो जाता है जिस कारण रोगी भ्रम में जीता है। पापा भी इसी के शिकार हैं। सोनल सपने में भी यह सब करने का नहीं सोच सकती। यह गुज़ारिश भी की कि वे प्रिया को कहें कि वह पापा को समझाए।

मैंने यह बात छुपा ली सोनल से। जानता हूँ, बहुत आघात पहुँचता यह जानकर कि पापा उसे रिश्तेदारों में बदनाम कर रहे हैं। जब पापा अपने मुँह से यह सब क़िस्सा लोगों को सुनाते होंगे तो सब उन्हें ही सच समझेंगे। बेचारी सोनल घर-बाहर दिनभर उलझी रहती है, ऊपर से ये इल्ज़ाम, वह भी उन्हीं के द्वारा जिन्हें कभी अपने पिता से कम नहीं माना। मुझे उसके लिए अपराधबोध भी होता पर मैं लाचार था। मगर कब तक छुपा पाऊँगा उससे, आज न कल उसे पता तो चलना ही है यह सब किसी-न-किसी से... उसके बाद के दृश्य की कल्पना मात्र से भी मेरा सर फटने लगता है...।

मैंने पापा से इस बारे में बात की तो उन्होंने सिरे से इन्कार कर दिया कि उन्होंने किसी को फ़ोन पर कुछ बताया है।

माँ ने भी अपनी लाचारगी जताई- "दिनभर इधर-उधर फ़ोन करते रहते हैं। पूछने पर सीधे इन्कार करते हैं कि किसी को फ़ोन किया है। कितना देखूँ और क्या-क्या देखूँ। हर वक़्त पहरेदारी संभव नहीं। बहू को ही समझाओ। इससे तो अच्छा होता कि भगवान मुझे ही उठा लेते... यह सब तो नहीं देखना पड़ता मुझे।"

माँ भी ठीक थीं। सारा दिन मैं फ़ैक्टरी और सोनल बुटिक में होते हैं...। हालांकि रसोई का सारा काम निपटाकर जाती है सोनल और रात का खाना भी वही बनाती है। फिर भी सारा दिन गौरव के पीछे भागना माँ के लिए इस उम्र में आसान नहीं हो सकता। ऊपर से पापा के स्वभाव में आया यह अप्रत्याशित बदलाव... हम सब हैरान थे, भले ही इसका कारण बीमारी थी, मगर यह सब सहज स्वीकारना बहुत मुश्किल लग रहा था।

हमारे पीछे माँ गौरव और पापा की देखभाल में कोई कसर नहीं छोड़ती थीं पर पापा रोज़ एक नई समस्या खड़ी कर देते। कई बार तो उन्होंने यह भी शिकायत की कि आज दोपहर तुम्हारी माँ ने खाना नहीं दिया। पूछने पर पता लगता पापा खाना खाकर सोए और उठकर शिकायत करने लगे कि आजकल किसी को मेरी क़द्र ही नहीं। आख़िर क्या-क्या करें माँ!

माता-पिता की सेवा करना मेरा धर्म और उत्तरदायित्व है पर सोनल... उसे भी पत्नी बनाकर लाया हूँ। उसके प्रति भी मेरी ज़िम्मेदारी बनती है... अपनी दोनों आँखों में से किसी एक को भला कैसे चुन-चुन सकता है कोई? पापा और सोनल में बढ़ती दूरियाँ देख मेरी दुविधा रोज़ बढ़ रही है...कैसे ठीक करूँ सब। मैं अपने काम संभालने के बजाय घर में उलझ सा गया हूँ।

पापा की दवाएँ नियमित चल रही हैं। कई डाक्टरों से मिल आया। कुछेक ने सलाह दी कि पागलपन का इलाज कराइए इनका। पर मैं जानता हूँ कि पापा पागल नहीं हैं। मैंने सारा गूगल छान लिया.... वो सब कर रहा हूँ, जो मुझसे मुमकिन है। मैं चाहता हूँ कि पापा ठीक न हो भी पाएँ तो उनकी स्थिति और ख़राब नहीं हो।

मैंने महसूस किया कि पापा इन दिनों सोनल से छुपने की कोशिश करते हैं। उनकी आँखों में डर का साया लहराता है। वह कुछ खाने के लिए भी देती है तो हाथ में कभी नहीं लेते। अजीब तरह से घूरते हैं उसे। सोनल सब समझने के बाद भी उखड़ी रहने लगी है। अब वो सीधे उनसे कुछ न कहकर माँ या गौरव का सहारा लेती है। माँ ने भी पापा के भ्रम को मिटाने की कई बार कोशिश की। डपट देते हैं- "मुझे समझाओगी? सारी ज़िंदगी लोगों को समझाने का ही काम किया है मैंने।"

उस रविवार पूरा मुहल्ला इकट्ठा हो गया घर पर।

संडे बुटिक बंद रखती है सोनल। शाम को गौरव के साथ क्रिकेट खेल कर लौटी तो पापा माँ के साथ बरामदे में चाय पी रहे थे। बैट सोनल के हाथ में थी। अचानक पापा की नज़र पड़ी उस पर... देखते ही देखते जाने कैसे पहले उनके हाथों से प्याली गिरकर टूटी और उसके साथ ही चीख़ते हुए वे खुद ज़मीन पर गिर पड़े।

"बचाओ-बचाओ.... मुझे मत मारो सोनल.. तुम्हारे आगे हाथ जोड़ता हूँ..."।

अचानक गिरने से बरामदे की सीढ़ियों पर उनका सर टकराया

और खून बलबला के निकलने लगा। माँ बदहवास-सी चीख़ने लगीं... "उठाओ.. संभालो.. डाक्टर को बुलाओ..."।

सोनल हतप्रभ खड़ी थी...।

पापा उस हालत में भी लगातार चिल्ला रहे थे- "मुझे मत मारो... मुझे मत मारो, सोनल प्लीज़...."।

जब तक मैं आया, मुहल्ले के लोग पापा को लेकर अस्पताल जा चुके थे। माँ भी साथ गईं थीं। घर के बाहर सोनल फूट-फूट कर रो रही थी। आसपास की कई महिलाएँ उसे चुप कराने की कोशिश में थीं। मैं चाहकर भी उसके पास नहीं रुक सका और अस्पताल की ओर भागा। पापा के सर पर गहरी चोट आई थी। कई टाँके लगे थे। चीख़-पुकार के बीच किसी ने पुलिस को ख़बर कर दी थी लिहाज़ा इंक्वायरी के लिए पुलिस भी आ गई।

उस रात बेतरह सन्नाटा था घर में। गौरव सो चुका था और थकी, मायूस-सी सोनल यंत्रवत् काम निपटा रही थी। "माँ नहीं आएँगी?" इसके अलावा कोई बात नहीं की मुझसे।

मैं समझ रहा था, बहुत आघात पहुँचा है उसे। पूरे मुहल्ले के लोगों ने चिल्लाहट सुनी थी कि पापा चीख़ रहे थे- "सोनल मत मारो मुझे।" चहारदीवारी के अंदर क्या हुआ था असल में और पापा को क्या बीमारी है, यह सबको समझाना मुश्किल था। मुझे समझ नहीं आया कि उससे क्या पूछूँ? मेरा अपराधबोध मेरे मुँह पर ताले की शक्ल में लटका रहा...।

इतनी काली रात मैंने जीवन में इससे पहले कभी महसूस नहीं की थी। बिस्तर के दो किनारों पर बेबस पड़े हम दोनों मानसिक यंत्रणा झेल रहे थे, मगर साझा नहीं कर पा रहे थे अपना दुख। मैं किसी तरह उसे सांत्वना देता। मेरी कोई ग़लती नहीं थी मगर मुझे बेतरह आत्मग्लानि का अनुभव हो रहा था। हमारे बीच का अंधेरा और घना हो गया था... मुझे पहली बार लगा कि अँधेरे के साथ घुलकर कमरे में पसरी चुप्पी जैसे हमारे रिश्ते को अपनी गिरफ़्त में ले रही थी... मेरे दुख सोनल के दुख से बतियाना चाहते थे... मुझे पता था वह भी मेरी ही तरह बेचैन होगी... मैंने बिना आवाज़ अपना दाहिना हाथ उसकी तरफ बढ़ाना चाहा पर किसी अनाम आशंका ने मुझे तत्क्षण रोक लिया...

मुझे माँ की बेतरह याद आई... माँ की तकलीफ़ का सोचकर मन एक नई टीस से भर आया...।

मेरी आँखें जल रही थीं... दर्द से बोझिल अधखुली आँखों में रात के चौथे पहर कल की अख़बार का तीसरा पन्ना लहराया....।

"कृष्णा नगर कॉलोनी में एक बहू ने बीमार श्वसुर पर बैट से हमला कर सर फोड़ दिया। 75 वर्षीय बूढ़े श्वसुर 'मेघना अस्पताल' में भर्ती हैं, जहाँ उनका इलाज चल रहा है। बताया जा रहा है कि महिला अपने पति पर दबाव डालती है कि वह अपने माता-पिता से अलग रहे, मगर पति इकलौता होने के कारण उसकी बात नहीं मान रहा था। इसलिए गुस्से में..."।

मैं पूरी ताक़त से चीख़ा था- "नहीं..."।

जब मेरी आँखें खुलीं सोनल को अपने पास पाया... उसने मेरा हाथ थाम रखा था... भय और घबराहट के मारे मैं पसीने से तरबतर था...।

"शायद तुम कोई डरावना सपना देख रहे थे... परेशान मत हो... सब ठीक है। माँ का फ़ोन आया था, सुबह दस बजे तक पापा को डिस्चार्ज मिल जाएगा... तुम भी उठो नहा-धो लो... मैं उनके आने से पहले नाश्ते की तैयारी कर लूँ।" सोनल की आवाज़ न बीती रात की तरह तिक्त थी न पहले की तरह रसपगी... उसमें एक अजीब तरह की निरपेक्षता थी शायद कोई तटस्थताबोध... कोई घनिष्ठ-अपरिचय... या कुछ और...।

मैं उसकी आवाज़ में उग आए इस नए भाव को पहचानने की कोशिश करता कि तभी डोरबेल की आवाज़ के साथ दरवाज़े के नीचे से सरकता हुआ आज का अख़बार कमरे में दाख़िल हुआ। अख़बार पर नज़र पड़ते ही मुझे सपने में दिखे उस एक कॉलम के ख़बर की याद हो आई। मैं तेज़ी से अख़बार की तरफ़ लपका... मैं उसे सोनल की नज़रों से छिपाकर कहीं और रख देना चाहता था...। ❑

बाँसुरी का अदेखा...

पृष्ठ 43 से आगे..

आपके पिता रघुनाथ प्रसन्ना के लिए किसी कार्यक्रम में हरिप्रसाद चौरसिया ने कहा था कि उन्होंने बड़े गुरु अर्थात् रघुनाथ प्रसन्नाजी से भैरव व यमन राग ही सीखा।

हाँ, हमारे यहाँ की परंपरा में है कि शिष्यों को सबसे पहले यमन राग ही सिखाते हैं। सुबह के लिए भैरव व शाम के वक़्त मुल्तानी भी सिखाते हैं। मुझे कभी समझ में नहीं आता कि अन्य गुरु पहले भोपाली क्यों चुनते हैं, उसमें म. नि है नहीं, पूरे स्वर नहीं। पक्के घराने शिष्यों को सही ज़मीन देते हैं ताकि उन्हें आकाश मिले।

पहले के वक़्त में हर सबक़ रियाज़ के द्वारा ही याद रख सकते थे। गुरुजन सबक़ को लिखना भी पसंद नहीं करते थे। आज वक़्त है कंप्यूटर का, सेविंग का, रिकार्डिंग का। इसमें गुरु-शिष्य के आपस के नए रिश्तों के विषय में आप क्या सोचते हैं?

इस विषय में, मैं सबसे पहले अपनी बात करता हूँ। मेरे चाचा मेरे गुरु भी थे और दोस्त भी। मैं विष्णु प्रसन्नाजी की बात कर रहा हूँ। हम दोनों के बीच बात को रखने की स्वतंत्रता भी रही। जैसे वो 18 घंटे रियाज़ करते थे सिर्फ़ सरगमों का। मैंने उनसे कहा आप रागों का भी रियाज़ किया कीजिए। उन्होंने माना कि रियाज़ करने के लिए भी सही-ग़लत की सोच आवश्यक है। इस तरह कई बार अपने से छोटे भी सही ज्ञान दे जाते हैं। इसलिए मेरा मानना है कि गुरु-शिष्य में आपसी सामंजस्य ज़रूरी है। आजकल शिष्य सबक़ को रिकार्ड कर लेते हैं या फ़ोन पर ही सबक़ लेते हैं पर एक सप्ताह बाद या पंद्रह दिन बाद मुझे सुनाते हैं। आजकल इलेक्ट्रॉनिक तानपुरा, तालपेटी से शिष्यों को सपोर्ट मिलने लगा है। मैं भी उन्हें सिखाते हुए कई बातें सीख रहा हूँ। हाँ, एक बात ज़रूर है यदि शिष्य के साथ गुरु का आशीर्वाद है तो रियाज़ भी अच्छा होगा और स्वयं गुरु की शक्ति, पॉवर भी साथ होती है। मैं शहनाई कम बजाता हूँ पर जब बजाता हूँ तो लगता है विष्णु प्रसन्नाजी स्वयं वहाँ हैं। सो रियाज़ बहुत ज़रूरी है। वो न होता तो मैं न होता। आज के शिष्य ये नहीं समझते।

कोई संदेश देना चाहेंगे?

पहली बात तो यह है कि सभी विद्वानों को सुनें, सीखें परंतु अपने ऊपर किसी की छाप का ठप्पा न लगे, मतलब अपनी निजी पहचान होनी चाहिए।

मेरे तीनों बेटे भी बाँसुरी बजा रहे हैं। हिंदुस्तान में हज़ारों बच्चे बाँसुरी सीख रहे हैं। मेरा मानना है कि हज़ारों की संख्या में भी हिंदुस्तान में बाँसुरी वादकों की कमी है। बाँसुरी अमर है जैसे श्रीकृष्ण वैसे उनकी बाँसुरी। इसका भविष्य बहुत अच्छा है। संगीत हिंदुस्तानी हो, दक्षिणी हो या वेस्टर्न, बाँसुरी को सभी ने अपनाया है।

कर्म करो यानी शिक्षा ग्रहण करो, रियाज़ करो तभी फल मिलेगा। तभी नवाचार भी होगा और भविष्य का नया रास्ता मिलेगा। ❑

आम्बेडकर : एक मूल्यांकन

डब्ल्यू.एन. कुबेर

भीमराव आम्बेडकर एक विख्यात विद्वान, विशिष्ट शिक्षाविद्, पारंगत राजनेता, प्रभावशाली वक्ता, साहसी त्राता, प्रामाणिक संविधानवेत्ता, योग्य प्रशासक, क्रांतिकारी परिवर्तनों के प्रसिद्ध पक्षधर और दलितों के निर्भीक हिमायती थे। आम्बेडकर के स्वभाव में संस्कृति, विवेक, व्यंग्य, मानवता, तर्कशक्ति, बुद्धिवाद, असमानता के विरुद्ध विक्षोभ और अन्याय तथा अंधविश्वास के प्रति रोष का सही संतुलन था। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। गाँधीजी उन्हें डरावना और निडर कहा करते थे।



भीमराव आम्बेडकर ने धार्मिक ग्रंथों के उन अंशों को अद्धृत किया जिनसे समाज के उच्च शिखर पर बैठे लोगों ने ऐसा कुचक्र चलाया कि भेदभाव हमारे धर्म का अंग बन गया और उससे समाज के एक बहुत बड़े वर्ग को शोषण के गर्त में ढकेल दिया गया। गाँधीजी ने कहा था कि उस समय तक स्वराज्य व्यर्थ है जब तक अस्पृश्यता का कलंक हमारे माथे से नहीं हटता। फिर राष्ट्रीय आंदोलन भी इसी आधार पर चला। आम्बेडकर ने दलितों को संगठित किया। उन्हें मनुष्यों का दर्जा दिलाया और भारतीय समाज तथा राजनीति में स्थान दिलाया। उनके नेतृत्व के फलस्वरूप एक शिक्षित वर्ग पैदा हुआ और सरकारी सेवाओं में लगा। हालाँकि इसकी सीमाएँ हैं। आम्बेडकर की जो स्मृतियाँ शेष हैं उनमें तीन संस्थाएँ बहुत महत्वपूर्ण हैं– (1) पीपुल्स एजूकेशन सोसायटी 1945 और उसके कालेज, (2) बुद्धिस्ट सोसायटी ऑफ़ इंडिया 1953 और रिपब्लिकन पार्टी ऑफ़ इंडिया (उनके सिद्धांतों पर उनके निधन के उपरांत बनी)। उन्होंने अनुभव किया कि सुरक्षित स्थानों को समाप्त किए जाए। पहले आम चुनावों में उन्होंने शि. का. फे. और सोशलिस्टों के साथ समझौता कराया लेकिन सोशलिस्टों ने शि. का. फे. के उम्मीदवारों को वोट नहीं दिए। उनके राजनैतिक दल की आस्था अपनी जाति तक ही सीमित थी। क्रिप्स के सामने उन्होंने कहा था कि मैं मज़दूर नेता होने की अपेक्षा अपने समुदाय का नेता होना पसंद करूँगा। वे प्रत्येक व्यक्ति का मूल्यांकन इस बात से करते थे कि परिगणित जातियों के लिए उसने क्या किया है।

उन्होंने केंद्रीकृत सरकार की स्थापना के लिए संघर्ष किया जो कि भारतीय लोकतंत्र के लिए आवश्यक थी। संविधान सभा में संविधान के प्रारूप को पास कराने के लिए विलक्षण क्षमता दिखाई। पर बाद की कुछ घटनाओं से वे कुंठित हो उठे और उन्हें कहना पड़ा, "संविधान तैयार करते समय मैं भाड़े का टट्टू था।" 1952 के आम चुनावों में उनकी संपूर्ण पराजय से उन्हें बहुत निराशा हुई। आम धारणा यह बनी कि "आम्बेडकर का कोई ख़ास राजनैतिक प्रभाव नहीं है परंतु उनके विचारों का सम्मान किया जाता रहा। इस सवाल का जवाब आज तक नहीं मिलता कि उन्होंने अपने-आपको एक संप्रदाय का नेता क्यों कहा, श्रमिक नेता क्यों नहीं कहा? आम्बेडकर का स्वभाव उदारवादी था। उन्होंने संसदीय लोकतंत्र और राज्य समाजवाद पर बल दिया।

भीमराव आम्बेडकर ने प्रमाणित कर दिया कि वे एक निर्भिक बुद्धिवादी होने के साथ-साथ एक महान् राजनीतिज्ञ भी थे। उन्होंने भारतीय राजनीति को संकीर्णता, परंपरावाद एवं धर्मवाद से मुक्त कराने की चेष्टा की। उन्होंने देश को वैधानिक ढाँचा प्रदान किया और लोगों को स्वतंत्रता का आधार प्रदान किया। भारत में ब्रिटिश शासन के अंतिम दौर में जब भारत प्रभुता संपन्न गणराज्य बनने जा रहा था उस समय के देश के सामाजिक-राजनैतिक इतिहास और संविधान के विकास में उनका नाम प्रमुखता से लिया जाएगा। *(प्रकाशन विभाग की पुस्तक 'आधुनिक भारत के निर्माता : भीमराव आम्बेडकर' से)* ❑

हमारा संविधान

सुभाष काश्यप

किसी देश का संविधान वहाँ के लोगों की शासन व्यवस्था का बुनियादी ढाँचा निश्चित करता है। वह राज्य के प्रमुख अंगों–विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका की स्थापना करता है, उनकी शक्तियों को परिभाषित करता है, उनकी ज़िम्मेदारियों को निर्धारित करता है और उनके एक-दूसरे के साथ तथा जनता के साथ संबंधों का नियमन करता है।

लोकतंत्र में प्रभुसत्ता जनता में निहित होती है और आदर्श स्थिति में जनता स्वयं अपने ऊपर शासन करती है लेकिन असंगठित या व्यवस्थाहीन लोग प्रभुसत्ता का सही उपयोग नहीं कर पाते हैं। लोगों को अपनी इस सत्ता को अभिव्यक्त करने और व्यवहार में लाने के लिए एक संस्था या माध्यम की ज़रूरत होती है। जनता द्वारा अपनी संप्रभुता के प्रयोग के लिए सबसे पहले अपने को एक संविधान देना होता है। जिसमें राज्य के विभिन्न अंगों को दी जाने वाली शक्तियों और उनके अनुपालन के नियमों का उल्लेख होता है। ऐसा माना जाता है कि लोकतांत्रिक संविधानों द्वारा दी गई शासन व्यवस्था में जनता समय-समय पर होने वाले चुनावों में अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन करके अपनी प्रभुसता का निरंतर प्रयोग करती है।

संघात्मक राज-व्यवस्था में संविधान अन्य बातों के अलावा संघीय सरकार के सभी अंगों के साथ-साथ संघ की इकाइयों या राज्यों की सरकारों के बीच अधिकारों का निर्धारण, सीमांकन और बँटवारा करता है।

एक देश के संविधान को वहाँ का आधारभूत कानून भी कहा जा सकता है जो वहाँ की राज-व्यवस्था के मूल तत्वों का विधान करता है और जिनकी कसौटी पर बाक़ी सारे कानूनों और राज्य के दूसरे आदेशों की प्रामाणिकता और वैधता परखी जाती है।

प्रत्येक संविधान उसके निर्माताओं की संकल्पना और मूल्यों का प्रतिनिधित्व करता है। वह जनता की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक और मान्यताओं और उनके विश्वासों और आकाँक्षाओं पर आधारित होता है लेकिन जहाँ संविधान सामाजिक परिवर्तन अथवा सामाजिक क्रांति के साधन होते हैं वहाँ हो सकता है कि इनमें निहित मूल्य विरासत से मिले सामाजिक मूल्यों से भिन्न हों। संविधान का उद्देश्य ऐसी संस्थाओं को स्थापित करना है जिनके द्वारा उन मूल्यों को प्राप्त किया जा सके जिनका संविधान निर्माताओं के मन में सबसे ऊँचा स्थान रहा है। संविधान का प्रत्येक प्रावधान एक निश्चित लक्ष्य प्राप्त करने के लिए होता है। जॉन डीवी ने अपनी पुस्तक 'थ्योरी ऑफ़ रिवोल्यूशन' में यह बात कही है कि व्यक्तिगत या संस्थागत मानवीय व्यवहार को दिशा देने में हम लोग मूल्यों के आकलन या लक्ष्यों की कीमत से यदि नियंत्रित न हों पर प्रभावित अवश्य ही होते हैं।

किसी देश के संविधान को एक दस्तावेज़ समझना ग़लत है क्योंकि संविधान सिर्फ़ वही नहीं है जो उसके मूलपाठ में लिखा है। संविधान कार्यशील संस्थाओं की सजीव रचना है। वह हमेशा बढ़ता और विकसित होता रहता है। प्रत्येक संविधान को अर्थ तथा सार, उसको लागू करने वाले लोगों, उनके लागू करने के तरीकों, देश के न्यायालयों द्वारा दी गई व्याख्याओं और समय-समय पर विकसित हुई परंपराओं से मिलता है।

हमारा वर्तमान संविधान भारत का पहला संविधान है जिसको भारत की जनता ने बनाया और स्वयं को प्रदान किया। 26 नवंबर, 1949 को संविधान सभा द्वारा इसको स्वीकार किया गया और 26 जनवरी, 1950 से यह पूरी तरह से लागू हुआ पर संविधान के भाग-II के अनुच्छेद 5-9 जो नागरिकता से संबंधित है, 26 नवंबर, 1949 से ही लागू हो गए जिस दिन संविधान सभा ने संविधान स्वीकार किया।

अपने संविधान के अंतर्गत हम भारत के नागरिक संसद और राज्य विधान मंडलों के सदस्यों को निर्वाचित करते हैं। लोक सभा और राज्यों की विधान सभाओं को जनता वयस्क मताधिकार के आधार पर सीधे निर्वाचित करती है। 18 वर्ष या उससे अधिक उम्र के सभी नागरिक निर्वाचक हैं और उन्हें वोट देने का अधिकार है। वे अपनी पसंद के प्रतिनिधियों को चुन सकते हैं जो फिर संघ और राज्य सरकारें बनाते हैं। ये सरकारें क्रमशः लोक सभा और राज्य विधान सभाओं के प्रति उत्तरदायी होती हैं।

हमारे संविधान में मूल अधिकार–राज्य के नीति-निदेशक सिद्धांतों और नागरिकों के मूल कर्त्तव्यों का विवरण देने वाले अध्याय हैं। ये ही हैं जो भारतीय नागरिकता को मूल्यवान बनाते हैं। उदाहरण के लिए अगर संविधान किसी मूल अधिकार की गारंटी नहीं देता तो नागरिकता की क्या कीमत होगी और जब तक समाज के हितों का ध्यान नहीं रखा जाता, नागरिक अपने दायित्वों के प्रति जागरूक नहीं होते और अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करते तब तक नागरिक अधिकारों को कैसे सुरक्षित किया जा सकता है!

राष्ट्र निर्माण के लिए और नागरिकों की भागीदारी वाली लोकतांत्रिक राज-व्यवस्था कायम करने के लिए जानकर नागरिकों से युक्त शिष्ट समाज विकसित करना अनिवार्य आवश्यकता है।

संविधान के 73वें और 74वें संशोधन के लागू होने के बाद शक्ति को साधारण नागरिकों तक लाने का प्रयास किया जा रहा है जिसका वे इस्तेमाल करें ताकि उन्हें शासन की प्रक्रिया में सक्रिय भागीदार बनाया जा सके और हमारी राज-व्यवस्था को वास्तव में भागीदारी वाले लोकतंत्र के रूप में बदला जा सके जिसमें नागरिकता-मूल्यों के प्रति श्रद्धा हो और वे सभी नागरिकों के व्यवहार के अंग बन जाएँ।

भारत के हम सभी नागरिकों से इन मूल्यों का सम्मान करने और भारत के लोकतंत्र के प्रयोग को सफल बनाने की अपेक्षा की जाती है।

(प्रकाशन विभाग की पुस्तक 'भारतीय संविधान और आम आदमी' से)

❑

संगीत में सौंदर्य

पं. विजयशंकर मिश्र



बनारस घराने से जुड़े। अब तक सात पुस्तकें और करीब 7000 आलेख प्रकाशित। भारत सरकार के जूनियर और सीनियर फेलोशिप सहित लगभग दो सौ प्रतिष्ठित मान-सम्मान और उपाधियाँ प्राप्त। विगत 45 वर्षों से संगीत के अध्यापन-कार्य से संबद्ध।

संगीत सिर्फ़ एक कला मात्र ही नहीं है बल्कि इसका स्थान ललित कलाओं में सर्वोपरि है। 'कला' शब्द की व्युत्पत्ति ही कल धातु से हुई है जिसका अर्थ ही है सुंदरता के साथ किसी कार्य को करना। सौंदर्य जहाँ है वहाँ कला है। इसीलिए भारत में 64 प्रकार की कलाओं को मान्यता दी गई है। संगीत सर्वश्रेष्ठ कला है, इसलिए सौंदर्य का इसमें होना अनिवार्य है। विगत दिनों दिल्ली विश्वविद्यालय के संगीत एवं ललित कला विभाग ने केंद्रीय संगीत नाटक अकादमी के सहयोग से एक दो-दिवसीय संगोष्ठी एवं कार्यक्रम 'रागों और तालों का सौंदर्य निरूपण आधुनिक परिप्रेक्ष्य में' विषय पर सफलतापूर्वक आयोजित किया जिसमें देश के अनेक स्वनामधन्य संगीतकारों ने भाग लेकर इसे गरिमा प्रदान की। आयोजन का पहला दिन पंडित अजय चक्रवर्ती, पंडित तेजेंद्र नारायण मजूमदार, श्री राम परुशराम और मैसूर मंजूनाथ जैसे विद्वानों के नाम रहा। उद्घाटन दिल्ली विश्वविद्यालय के उपकुलपति योगेश त्यागी ने किया। स्वागत भाषण कला संकाय प्रमुख दीप्ति ओमचेरी भल्ला ने दिया। बीज़ वक्तव्य पंडित भजन सोपोरी ने दिया। इस अवसर पर पंडित देबू चौधरी और चिन्मय गरे खान सहित कला जगत की अनेक महान् हस्तियाँ उपस्थित थीं।

दूसरे दिन का प्रात:कालीन सत्र अनुपम महाजन के सभापतित्व में उस्ताद बहाउद्दीन डागर के रुद्र वीणा के साथ आरंभ हुआ। अनुपम महाजन ने स्वरों की सूक्ष्म विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए कहा कि स्वरों का आपसी संवाद आलाप में ही संभव है और यह एक तरह से प्रेम जैसा मामला है जिसमें व्यक्ति धीरे-धीरे खुलता और एक-दूसरे के नज़दीक होता है। उस्ताद बहाउद्दीन डागर ने अपनी वादन शैली डागर वाणी के विषय में बताते हुए कहा कि यह प्राचीन काल की साधारणी गीति के काफ़ी नज़दीक है। उन्होंने राग शुद्ध भैरवी की अवतारणा करते हुए कहा कि वीणा पर गायन का ही वादन होता है। उन्होंने बताया कि विलंबित धमार का विस्तार विलंबित लय में ही होना चाहिए और परंपरा के अंदर रहकर भी कला का विकास हो सकता है। इनके साथ पखावज पर पंडित डालचंद शर्मा ने संगत की।



पंडित भोलानाथ मिश्र

पंडित भजन सोपोरी ने अपनी प्रस्तुति के समय तबले पर दुर्जन भौमिक और पखावज पर ऋशिभांकर उपाध्याय को साथ रखा। इन्होंने अपनी प्रस्तुति के लिए कर्नाटक शैली के राग वसंत मुखारी को चुना जो इन दिनों हिंदुस्तानी संगीत में भी खूब लोकप्रिय है। भजनजी ने कहा कि कर्णाटकीय शैली में रागों का समय सिद्धांत नहीं होता है जबकि हम जब भी किसी राग को चुनते हैं, उसके थाट और समय सिद्धांत का निर्धारण करते हैं। इस दृष्टि से वसंत मुखारी भैरव थाट के प्रात:कालीन राग के रूप में उत्तर भारतीय संगीत में अपनाया गया हैं। इन्होंने राग वसंत मुखारी में द्रुत एकताल और त्रिताल में दो रचनाओं का भी सुंदर और भावविभोर कर देने वाला वादन किया। तालयोगी पंडित सुरेश तलवलकर अपनी तरह के एकमात्र तबला वादक हैं। उनके कार्यक्रम में सभापति के रूप में उपस्थित तबला के अनन्य विद्वान पंडित मुकुंद भाले ने अपने पहले वाक्य से ही लोगों को चौंका दिया, "तालों का अनुशासन होता है, सौंदर्य तो ठेकों का, रचनाओं का होता है।" बात शत-प्रतिशत सही भी है। तलवलकरजी नग्मे की जगह गायन का सहयोग लेते हैं और आज इस सहयोग के लिए उनके साथ युवा गायक ओजेश प्रताप सिंह उपस्थित थे। हारमोनियम पर विनय मिश्र थे। रूपक की एक बंदिश-'करत भज मन राम निस दिन' को आधार बनाकर पंडित तलवलकरजी ने अपना वादन आरंभ किया और पूरे सभागार को झूमने के लिए विवश कर दिया। ओजेश ने सोहनी की बंदिश आड़ाचौताल में शुरू की-'चलो हटो पिया अपनी गैल जाओ' और तलवलकरजी ने पढंत। ग्वालियर घराने के वयोवृद्ध गायक पंडित लक्ष्मण कृष्णराव पंडित ने मंच पर प्रवेश किया। इस सत्र का संचालन सुनीरा कासलीवाल ने किया जबकि तबला संगति सागर गुजराती और हारमोनियम संगत विनय मिश्र ने। सुनीराजी ने पंडितजी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रकाश डाला तो पंडितजी ने सिर्फ़ स्वर लगाव द्वारा ध्रुवपद, ख्याल, ठुमरी और टप्पा के अंतर को स्पष्ट कर दिया। उन्होंने यह भी बताया कि इसका संबंध प्राचीन बेसरा गीति से माना जाता है। इसकी भाषा मूलत: पंजाबी होने के बाद भी यह उर्दू, पश्तो, हिन्दी और मुल्तानी आदि भाषाओं में गाई जाती है। निधू बाबू ने बांग्ला भाषा में भी टप्पा का प्रचार-प्रसार किया। ग्वालियर में टप्पा युक्त ख्याल, ठुमरी, तराना, होली और अष्टपदी आदि गाने का रिवाज है। पंडितजी ने कई रचनाएँ गाकर भी सुनाईं। उन्होंने बताया कि टप्पा चंचल प्रकृति की

***संपर्क** : 'शंकरा', 705 डी/21 सी, वार्ड सं. 3, महरौली, नई दिल्ली-110030*
मो. 9810517945

गायन शैली है जिसमें मुर्की और लच्छेदार तानें, खटका और जमजमा आदि का प्रयोग होता है। इसका सम बंदूक की गोली की तरह से आता है।

टी. वी. भक्तवत्सलम कर्नाटक शैली के मृदंगम के सिद्धहस्त वादक हैं। उन्होंने श्रीधर की वायलिन को आधार बनाकर विभिन्न तालों में विभिन्न जातियों और लयकारियों का चमत्कारिक प्रदर्शन किया। सर्वप्रथम आदि ताल में, फिर 10 मात्रा के खंड चापू ताल में, उसके बाद 12 मात्रा में, फिर मिश्र चापू ताल में साढ़े तीन मात्रा और अंतत मुतुस्वामी दीक्षितर की आदि ताल में निबद्ध रचना को आधार बनाकर उन्होंने खंड और संकीर्ण जातियों का सुंदर वादन किया। उमा गर्ग दिल्ली विश्वविद्यालय की ही सेवानिवृत्त प्राध्यापिका और कला संकाय प्रमुख रही हैं। उन्होंने राग मुलतानी की सुंदर और सुविचारित प्रस्तुति की। विलंबित रचना 'तू साहेब जमाल' एकताल में थी तो द्रुत 'बलमा मोरे तुम संग लागी प्रीति' त्रिताल में। सुंदर आलाप और तानों के माध्यम से उमाजी ने अपनी प्रस्तुति को अत्यंत आकर्षक रूप दिया। उनके साथ संगत के लिए तबले पर पंडित आशीष सेनगुप्ता, हारमोनियम पर विनय मिश्र, गायन पर रिंदाना रहस्या और तानपुरा पर अनुकृति उपस्थित थीं। उमा गर्ग के गायन का आकर्षण अभी भी यथावत है। इस दो-दिवसीय भव्य समारोह का भव्य समापन पंडित भोलनाथ मिश्र की भव्य गायकी से हुआ। संगति के लिए आशीष सेनगुप्ता और विनय मिश्र इस समय भी उपस्थित थे। भोलानाथ मिश्र को ठुमरी और दादरा गायन के लिए आमंत्रित किया गया था। उन्होंने पटदीप राग में बंदिश की ठुमरी 'न जाओ न जाओ श्याम उन संग' से अपने गायन का शुभारंभ किया। बंदिश एकताल में निबद्ध थी और मुखड़ा 12वीं मात्रा से आरंभ होता था जो कठिन जगह है। इसके बाद राग देश में उन्होंने 'सौतन घर न जाओ सैंया' की प्रस्तुति की। रचना 16 मात्रा के जत ताल में निबद्ध थी। समापन उन्होंने भैरवी की एक दादरा से किया 'जरा कह दो सांवरिया से आया करे'। भोलानाथ मिश्र घरानेदार गायक हैं और उनके गायन में बनारस घराना पूरी तरह से प्रतिबिंबित होता है। इनके बोल बनाव का अंदाज़ और बढ़त का सिलसिला प्रशंसनीय है। आशीष सेनगुप्ता और विनय मिश्र की संगति भी प्रशंसनीय रही साथ ही गायन में सहयोग कर रहे अलीश मोहन की भी। बहुत दिनों बाद दिल्ली विश्वविद्यालय ने इतना सुंदर और सार्थक कोई आयोजन किया है। इसके लिए इसकी कला संकाय प्रमुख प्रोफ़ेसर दीप्ति ओमचेरी भल्ला बधाई की पात्र हैं।

● विश्वविख्यात कथक नृत्यांगना शोभना नारायण अपने अभिनव प्रयोगों के लिए विख्यात हैं। पिछले दिनों उन्होंने एक भव्य नृत्य समारोह का आयोजन किया, जिसमें शोभा दीपक सिंह, सुनील कोठारी, भारती शिवाजी, शेरोन लॉवेन और माँगीराम शर्मा को ललित अर्पण सम्मान से सम्मानित किया गया। इस अवसर पर उनकी शिष्या कोमल बिस्वाल ने कथक नृत्य की सुंदर प्रस्तुति की। 11 मात्रे के अष्टमंगल ताल में नृत्य के तकनीकी पक्ष को प्रस्तुत करने के बाद उन्होंने शोभना नारायण और तारा पांडेय लिखित- नारी अस्मिता की तलाश करती दो रचनाओं पर सुंदर अभिनय भी किया। यह आयोजन राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी की 150वीं जयंती और प्रतिष्ठित कवि रामधारी सिंह दिनकर की 111वीं जयंती के अवसर पर आयोजित किया गया था। शोभना ने इस शाम दिनकरजी की कालजयी कृति 'रश्मिरथी' को मुख्य प्रस्तुति के लिए चुना था। वे स्वयं कुंती की करुण भूमिका में थीं। कौरव और पांडव की भूमिका में चूँकि जयपुर घराने के तेज़तर्रार नर्तक थे, अत: अभिनय के ऊपर नृत्य का तकनीकी पक्ष और तेज भ्रमरी आदि हावी था। कुंती की भूमिका में स्वयं शोभनाजी ने अत्यधिक प्रभावित किया। एक ओर अपने 5 पुत्रों पांडव के प्रति प्रेम और दूसरी ओर ज्येष्ठ पुत्र कर्ण के प्रति प्रेम की चक्की में पिसती कुंती के दर्द, पीड़ा और असमंजस की स्थिति को शोभना ने अपने अभिनय से जैसे जीवंत कर दिया।


कुंती की भूमिका में शोभना नारायण

● व्यंजना आर्ट एंड कल्चर सोसायटी ने पिछले दिनों ऋषिकेश में गंगा विषय पर दो-दिवसीय अंतरविषयी सेमिनार का आयोजन किया था, जिसके संध्याकालीन सत्र में युवा गायिका तनुश्री कश्यप ने राग रागेश्री में दो स्वरचित रचनाएँ प्रस्तुति कीं। पहली विलंबित एकताल में थी, 'हे प्रणाम गंगा मैया' तो दूसरी द्रुत एकताल में 'जयजय गंगा मैया।' अपने भावपूर्ण गायन के लिए तनुश्री कश्यप काफ़ी प्रशंसित हुई। दिनेश कश्यप की तबला संगत भी प्रशंसनीय रही। चेन्नई से आईं शांति महेश ने त्यागराज सहित कुछ अन्य संगीतकारों द्वारा रचित भावपूर्ण कृतियों के माध्यम से संगीत की कर्णाटकीय शैली मे गंगा को स्मरण किया। राम शंकर ने अपने गुरु पंडित रामाश्रय झा रामरंग लिखित 'संगीत रामायण' की विभिन्न रचनाओं और प्रसंगों के आधार पर गंगा की महानता को गाकर सिद्ध किया। उनकी अलग-अलग रचनाएँ अलग-अलग रागों और तालों में निबद्ध थीं। सुभाष कांति दास की तबला संगति काफ़ी अच्छी रही। राधा न्यूपाने और संजय वर्मा ने सरोद और गिटार की आकर्षक जुगलबंदी प्रस्तुति की। सुमित सिंह पदम ने सितार पर राग यमन की सुंदर अवतारण की। उनकी दोनों रचनाएँ क्रमश: 9 मात्रा और 16 मात्रा में निबद्ध थी। सुभाष कांति दास की तबला संगति काफ़ी अच्छी रही। मॉम गांगुली ने नृत्य में गंगा-विषयक प्रसंगों का वर्णन किया। रेणु शर्मा ने अपने नृत्य के माध्यम से गंगा और शंकर के प्रसंगों को प्रस्तुत किया। रक्षा सिंह डेविड, अस्मिता मिश्रा और शिफ़ा डेविड ने 4 अलग-अलग गीतों के माध्यम से गंगा के विभिन्न प्रसंगों को प्रस्तुत किया। सर्वप्रथम रक्षा ने गंगा स्तोत्र को आकर्षक भाव-भंगिमाओं के माध्यम से मंच पर प्रस्तुत किया। उसके बाद अस्मिता मिश्रा ने 'जय-जय जय मातु गंगे' के माध्यम से गंगा के विभिन्न रूपों और प्रसंगों को मंच पर जीवंत किया। शिफ़ा डेविड ने 'नमामि गंगे' गीत के माध्यम से गंगा सफ़ाई अभियान का चित्रण किया। अंतिम प्रस्तुति 'गंगा जगत तारण को आई' को तीनों नर्तकियों ने सामूहिक रूप से प्रस्तुत किया। यह प्रस्तुति सर्वाधिक सराही गई। निर्देशन रक्षा सिंह डेविड का था। समापन कविता द्विवेदी के भावपूर्ण


अस्मिता

नृत्य से हुआ। उन्होंने देवी सुरेश्वरी भगवती गंगे पर ओडिशी नृत्य शैली में आकर्षक अभिनय करके लोगों के दिलों को छू लिया।

स्मृति शेष

कर्णाटकीय शैली के महान् सैक्सोफ़ोन वादक विद्वान कादरी गोपालनाथ का 11 अक्तूबर 2019 को इस दुनिया को अलविदा कहना संगीत जगत को अत्यंत शोकाकुल करनेवाला समाचार था। 6 दिसंबर 1949 को दक्षिण कन्नड़ के बंटवाल ताल्लुक के सजीपा मूदा गाँव में जन्म गोपालनाथ को संगीत के संस्कार अपने घर-परिवार में ही मिले थे। पिता तनियप्पा नागस्वरम् के वादक थे तो माँ गंगम्मा संगीत अनुरागी धर्म परायण महिला। अत: गोपालनाथ का संगीत के प्रति रुझान होना स्वाभाविक ही था। अत: उन्होंने सर्वप्रथम अपने पिता से ही सीखना शुरू किया। बाद में इनके पिता ने जब इनकी असाधारण प्रतिभा को देखा तो इन्हें अपने गुरु एन. गोपालकृष्णन अय्यर के पास ले गए और उनके शिष्यत्व में सौंप दिया। बाद में यह परिवार कादरी नामक स्थान पर आ गया और यही कादरी उनके नाम का एक अंश बन गया। कादरी गोपालनाथ तब छोटे ही थे जब मैसूर पैलेस बैंड सेट में उन्होंने सैक्सोफ़ोन बजते देखा था। सैक्सोफ़ोन की उस आवाज़ ने उन्हें इतना अधिक प्रभावित किया कि उन्होंने इसी दिशा में आगे बढ़ने का संकल्प ले लिया लेकिन, यह निश्चय जितना आसान था उसे पूरा करना उतना ही कठिन था। किसी बैंड में कई साज़ों के साथ सैक्सोफ़ोन बजा लेना अलग बात थी और पाश्चात्य संगीत के इस साज़ पर विशुद्ध कर्णाटकीय शास्त्रीय संगीत का वादन अलग बात थी लेकिन, गोपालनाथ प्रयास करते रहे। उस समय कादरी स्थित जोगी मठ के समीप के पांडव गुफा में वे पूरे-पूरे दिन अपने साज़ की साधना-आराधना करते थे।

चेम्बाई मेमोरियल ट्रस्ट ने उनका पहला कार्यक्रम आयोजित किया था और उसके बाद से वे लगातार आगे बढ़ते रहे। गोपालनाथ बचपन में 25 पैसे का टिकट ख़रीदकर यक्षगान नृत्य शैली के अंतर्गत मंचित रामायण और महाभारत आदि के विभिन्न प्रसंगों का मंचन देखने के लिए खूब जाया करते थे। इन गाथाओं के विभिन्न प्रेरक प्रसंगों से उन्होंने खूब प्रेरणा ली थी। बाद में उन्होंने चेन्नई को अपना निवास स्थान बनाया में वे मेंगलुरु में जाकर बस गए थे।

चेन्नई आने के बाद कादरी गोपालनाथ को लगा कि कार्यक्रम वग़ैरह बजाना तो ठीक है, किंतु उन्हें अभी और भी सीखना चाहिए इस वाद्य पर महारत हासिल करने के लिए। अत: वे टी. वी. गोपालकृष्णन् से सीखने लगे। बाद में वे मंगलुरु आ गए जिसने इनके लिए अंतरराष्ट्रीय मंचों का द्वार खोल दिया। कादरी गोपालनाथ बहुमुखी प्रतिभासंपन्न कलाकार थे। सीमित क्षमताओं वाले एक कर्कश और पाश्चात्य वाद्य का उन्होंने जिस तरह से भारतीयकरण करते हुए उसमें मिठास घोलने का काम किया था, उसे उनके जैसा प्रतिभाशाली व्यक्ति ही कर सकता था। उन्होंने पाश्चात्य संगीत और उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत के अनेक प्रतिष्ठित संगीतकारों के साथ युगल वादन करके भी अपनी और अपने साज़ की अद्वितीय क्षमता का परिचय दिया था।



कादरी गोपालनाथ

गोपालनाथजी ने भारत के सभी प्रतिष्ठित मंचों सहित प्राग के शैज फेस्टिवल, बर्लिन के शैज फेस्टिवल, मेक्सिको के इंटरनेशनल सरवेंटिनो फेस्टिवल, पेरिस के म्यूज़िक हाल फेस्टिवल और लंदन के बी. बी. सी. संगीत कार्यक्रमों सहित अनेक प्रतिष्ठित संगीत समारोहों में भाग लेकर भारत का नाम ऊँचा किया था। कादरी गोपालनाथ को कई मान-सम्मान मिले थे, जब भी सैक्सोफ़ोन पर शास्त्रीय संगीत के प्रस्तुति की बात उठेगी, कादरी गोपालनाथ के महान् योगदानों की बात भी ज़रूर होगी। ❑

आजकल का ग्राहक बनें :

मैं आपकी पत्रिका----------का ❑ एक वर्ष (230 रुपये) ❑ दो वर्ष (430 रुपये) ❑ तीन वर्ष (610 रुपये) का ग्राहक बनना चाहता हूँ। शुल्क का रुपये----------डिमांड ड्राफ्ट ----------दिनांक----------संलग्न है।

हस्ताक्षर----------

नाम

:----------

पता

:----------

पिन : ❑❑❑❑❑❑

- कृपया अपना चंदा डी.डी. *प्रधान महा निदेशक, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय* के नाम बनाएँ।
- पत्रिका भेजने में, चंदा प्राप्त होने के बाद, आठ से दस सप्ताह का समय लगता है। कृपया इतने समय प्रतीक्षा करें।
- 'आजकल' पत्रिका ऑनलाइन ख़रीदने के लिए कृपया www.bharatkosh.gov.in पर जाएँ।
- दिल्ली से प्रकाशित हमारी अन्य पत्रिकाएँ हैं : *बाल भारती, आजकल* (उर्दू), *कुरुक्षेत्र* (हिन्दी व अंग्रेज़ी), *योजना* (हिन्दी, अंग्रेज़ी, उर्दू, पंजाबी व उड़िया)।

चंदा निम्न पते पर भेजें :

संपादक (प्रसार)

प्रकाशन विभाग, कमरा नं. 56, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003

सपने में सिर्फ़ सपना होता

अरुण होता



विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित। आलोचना की 7 पुस्तकें और अनुवाद की 3 पुस्तकें प्रकाशित। समकालीन कविता और कथा-साहित्य में रुचि। कई सम्मानों से सम्मानित।

समकालीन हिन्दी कविता के चर्चित कवि मदन कश्यप का छठा कविता-संग्रह 'पनसोखा है इंद्रधनुष' अभी हाल ही में प्रकाशित हुआ है। इस कवि के अन्य कविता-संग्रह हैं- 'लेकिन उदास है पृथ्वी' (1992), 'नीम रोशनी में' (2000), 'कुरुज' (2006), 'दूर तक चुप्पी' (2014), 'अपना ही देश' (2016)। कवि के ये संग्रह चर्चित और प्रशंसित रहे परंतु 'अपना ही देश' को पाठकों ने सर्वाधिक पसंद किया और सराहा। इस कविता-संग्रह ने कवि को ख्याति और प्रसिद्धि भी प्रदान की। यह इसलिए कि कवि ने अपने समय और समाज को जीवनानुभवों के आधार पर पुनर्सृजित किया है। कविता, राजनीति, इतिहास, जनांदोलन और आदिवासी जीवन का अध्ययन इस कवि का कार्य क्षेत्र रहा है। व्यापक जीवनानुभव से समृद्ध यह कवि अपनी पीढ़ी का सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचनाकार है। हर नए संग्रह में यह कवि कंटेंट हो अथवा अभिव्यक्ति के ढंग में कुछ नया न भी हो तो ताज़ा-टटकापन लेकर आता है। इस दृष्टि से 'पनसोखा है इंद्रधनुष' की चर्चा अपेक्षित है।

'पनसोखा है इंद्रधनुष' में कवि की प्रेम-चेतना, समय और समाज की अभिव्यक्ति, राजनैतिक चेतना, भूमंडलीकरण, बाज़ार, पूँजी और सत्ता के खेल आदि को अत्यंत सरल तथा सहज परंतु संवेद्य एवं प्रभावशाली ढंग से चित्रित किया है। इस पुस्तक में तीन उपखंड हैं। प्रथम उपखंड का कोई शीर्षक नहीं है लेकिन मानवीय संबंध, जीवन मूल्य, प्रेम और स्त्री दृष्टि, प्रगतिशीलता, दलित दृष्टि आदि से संबंधित कविताएँ संकलित हैं। द्वितीय उपखंड में 'चैट कविता' के अंतर्गत एक नया प्रयोग किया गया है। कविताएँ शीर्षकविहीन हैं लेकिन शीर्षक के स्थान पर तारीख़ें हैं। तृतीय उपखंड 'डपोरशंख' है। गपोड़ का डपोर में व्यक्तित्वांतरण को कवि ने बड़ी शिद्दत के साथ चित्रित किया है। इस उपखंड में कवि की प्रखर राजनैतिक चेतना का परिचय मिलता है। इस संग्रह में वैविध्य कई स्तरों पर परिलक्षित होता है। 'पनसोखा है इंद्रधनुष', भाषा, भाव, आकार, संवेदना और अभिव्यक्ति संबंधी विविधताओं से संपन्न कविता-संग्रह है।

अपने छठे कविता-संग्रह तक आते-आते कवि की स्त्री-दृष्टि अधिक मुखर और युगानुकूल हुई है। स्त्री-पुरुष, वह एक दुःख, बेरोज़गार पिता की बेटी, मुश्किल सवाल, प्रेम में हत्या आदि कई कविताएँ हैं जिनसे कवि की स्त्री दृष्टि के वितान को समझा जा सकता है। बेटी, बहू, प्रेमिका, पत्नी आदि के रूप में स्त्री जीवन की पीड़ा, वेदना और यंत्रणा को रूपायित करते हुए उसकी जिजीविषा को इन कविताओं के माध्यम से समझा जा सकता है। कवि ने स्त्री के प्रति समाज की रुग्ण मानसिकता को उद्घाटित करना भी नहीं भुलाया है। खाप पंचायत के माध्यम से युवा प्रेमी-युगल को फांसी के फंदे पर लटका कर धर्म और संस्कृति की रक्षा करने का दावा करना हास्यास्पद है। दुःख इस बात का है कि तथाकथित सभ्य समाज का कोई भी व्यक्ति इस हत्या का विरोध नहीं करता है। सब चुप रहते हैं। इसलिए कवि कहता है- "सब चुप थे सब हत्यारे थे।" इसी तरह 'मुश्किल सवाल' कविता में कवि ने स्त्री के प्रति समाज की असंवेदनशीलता को प्रश्नांकित किया है। स्त्री के रोने का कारण कोई जानना नहीं चाहता। यह हमारे समय का सबसे कठिन सवाल है। स्त्री के त्रासद वर्तमान का चित्रण करना कवि का उद्देश्य नहीं है। बेरोज़गार पिता की बेटी की कामना उसकी जिजीविषा का प्रतीक है- "बरसात नहीं तो छींटे ही सही/ऐसा कुछ सोचकर कभी-कभी खुश हो लेती है/ बेरोज़गार पिता की बेटी"। चूल्हा जलाना, आटा पीसना, धान कूटना आदि भले ही दादी और माँ के साथ चले गए लेकिन स्त्री-जीवन में पीढ़ियों से चले आ रहे दुःख दिनोदिन अधिक नृशंस रूप धारण करते हुए धँसता चला आ रहा है। एक छोटे-से पद में कवि ने तीन पीढ़ियों में व्याप्त दुःख को व्यक्त किया है, "यह सब तो छूट गया बहुत पीछे/ सब कुछ दादी के साथ गया/ माँ ने भी तो उन्हें नहीं जुगाया/ और मैंने तो बस क़िस्सों में सुना/ लेकिन दुःख/ वह तो उसी तरह चला आया"।

कवि मदन कश्यप की कविताओं में प्रेम का उदात्त रूप अभिव्यक्त हुआ है। 'स्त्री-पुरुष', 'एक अधूरी प्रेम कविता' और 'पनसोखा है इंद्रधनुष' कविताओं में कवि की प्रेम दृष्टि का परिचय मिलता है। ये कवि के आंतरिक प्रेम की कविताएँ हैं। एक-दूसरे की पूरक भी। इसलिए इन तीनों कविताओं को साथ-साथ पढ़ी जाएँ अन्यथा पाठक को लगेगा कि इसकी संरचना जटिल हो गई है। 'पनसोखा है इंद्रधनुष' शीर्षक के बारे में स्पष्ट करना उचित होगा कि बिहार तथा पूर्वी उत्तरप्रदेश में पनसोखा इंद्रधनुष का पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त होता है। यहाँ कवि ने पर्यायवाची को विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया है। पनसोखा यानी पानी सोखने वाला। इंद्रधनुष को देखकर कवि को प्रियतमा के सतरंगा दुपट्टा का स्मरण हो आता है। मिलेनियम पार्क में प्रियतमा से मिलना, स्पर्श और चुंबन का अनुभव करना देह को स्वीकारना तो है लेकिन 'महज़ चुंबन और स्पर्श नहीं था हमारा प्यार' के माध्यम से वह देहातीत प्रेम स्थापित करता है। कवि की अब तक प्रकाशित कविताओं में सबसे लंबी कविता है 'एक अधूरी प्रेम कविता'। लंबी होने पर भी अधूरी इसलिए है कि प्रेम की संपूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। इन कविताओं से यह स्पष्ट होता है कि कवि की प्रेम चेतना में देह त्याज्य नहीं है। देह है, लेकिन देह सबकुछ नहीं है। कवि की दृष्टि में प्यार की दुनिया ईश्वर की दुनिया से अधिक हलचल और सुंदर है। कवि अपने प्रेम को पाना नहीं बल्कि उसमें विलीन हो जाना

***संपर्क** : 2 एफ़, धर्मतल्ला रोड, क़स्बा, कोलकाता-700042, मो. 9434884339*

चाहता है। एक मामूली आदमी की तरह कवि ने अपनी इच्छा जताई है- "मैं तो बस जीना चाहता हूँ अपने हिस्से की ज़िंदगी/करना चाहता हूँ अपने हिस्से का प्यार/ लड़ना चाहता हूँ अपने हिस्से की जंग"। भूमंडलीकरण के दौर में सब कुछ बिकाऊ है। ऐसी स्थिति में प्रेम के महत्व को स्वीकार करना कवि की जीवनदृष्टि का परिचायक है। कवि के प्रेम संबंधी विचार को अधिक पुष्ट करने के लिए उनकी संबंधों पर आधारित कविताओं–'पिता की चुप्पी', 'साठ का होना' आदि कविताएँ पढ़ी जा सकती हैं।

इस पुस्तक में कवि की प्रगतिशील दृष्टि से संबंधित कई कविताएँ हैं लेकिन इसका सबसे सुंदर उदाहरण है 'फुटपाथ पर सोने वाले'। कवि ने इस कविता में श्रम और सौंदर्य का सुंदर समन्वय प्रस्तुत किया है। फुटपाथ को अपना घर और संसार मानने वाले जब मारे जाते हैं तभी पता चलता है कि वे थे अन्यथा उनका कोई अस्तित्व न था। इस कविता के बहाने कवि ने हमारी न्याय व्यवस्था की पोल खोल कर रख दी है। नुरूल ख़ान और सलमन ख़ान के फ़र्क़ को चाहे कोई समझे या न समझे, अदालत जानती है। न्याय व्यवस्था का इससे अच्छा उदाहरण और क्या हो सकता है कि- "न्याय का काम हर हाल में रंगीन दुनिया को बचाना है"। आर्थिक असमानता ही नहीं, सामाजिक वैषम्य के चित्र भी संवेदनात्मक ढंग से उकेरे गए हैं। एक बात और भी है कि इस अपेक्षाकृत लंबी कविता के बीच में गद्य का प्रयोग किया गया है जिसे कोष्ठक में रखा गया है लेकिन इस गद्य में कविता और कविताई मौजूद है। इस कविता का सौंदर्य कविता के अंत में उभरता है जब तमाम प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद यह दृश्य उपस्थित होता है- "एक अँधेरे से उठेंगी चीख़ें-रुलाइयाँ और दूसरे अँधेरे तक चली जाएँगी/फिर भी फुटपाथ पर सोने वाले बंद नहीं करेंगे फुटपाथ पर सोना/कोई बड़ा स्वप्न नहीं हो/ तब भी मरते नहीं हैं छोटे-छोटे सपने।"



भूमंडलीकरण में सत्ता, बाज़ार और पूँजी के खेल को कवि ने बखूबी समझा है। सत्ता का स्वभाव है कि उससे कोई सवाल न पूछा जाए। बाज़ार का दावा है कि उसके कहे अनुसार कोई चले तो वह बहुत लाभान्वित होगा। यानि सोचने और विचारने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह दायित्व बाज़ार को सुपुर्द कर दिया जाए अर्थात् मनुष्य बुद्धि और विवेक रहित हो। डर के माहौल में लोगों को रखा जाए तो सत्ता और पूँजी दोनों फलेंगी-फूलेंगी। उपभोक्तावादी समय और समाज में अमरीकावाद हावी हो रहा है। इस संदर्भ में एक आम आदमी अपने भाव को उजागर करता है- "डरता हूँ सबसे डरता हूँ/और सबसे ज़्यादा अमरीका से डरता हूँ/ लेकिन उतना नहीं/ जितना अमरीका मुझसे डरता है।" अंतिम पंक्ति में समकालीन कविता की खूबसूरती झलकती है। अभी भी कुछ बचा हुआ है इस आम आदमी के पास। मसलन, उसकी सोचने-समझने की शक्ति, इंसानियत, विवेक और इसी तरह के कुछ मूल्य। इसी बचे हुए के आधार पर पूँजीवादी शक्तियों को पराजित किया जा सकता है, ऐसा विश्वास कवि का है। संग्रह की कई बहुआयामी कविताओं में से एक है 'प्रेम में हत्या'। प्रेम में डूबी लड़की की व्यथा नदी, चिड़िया, फ़सल, पेड़, आदि के रूप में प्रकृति ही समझती है। इसके माध्यम से कवि हमारे समय की सबसे बड़ी क्रूरता को उजागर करना चाहता है।

'जब पैसे बहुत कम थे' एक उम्दा कविता है। इसे कवि की अतीतजीविता न मानकर भूमंडलीकरण की काट करने वाली कविता समझी जानी चाहिए। कवि के शब्दों में- "श्रम और अन्न के गठजोड़ पर टिका था जीवन / पैसे बहुत कम थे / खुशियों के मौक़े बहुत-बहुत ज़्यादा।"

'चैट कविता' एक नया प्रयोग है। लगभग चार वर्षों के कालखंड में 'ख़ास समय और ख़ास तरह की होड़' में लिखी गई इन कविताओं में भाव, कविताई और भाषा का सुंदर समन्वय स्थापित हुआ है। भले ही कवि यहाँ प्रेम तत्व की खोज न करने का आग्रह करता है लेकिन यहाँ प्रेम है और कवि दृष्टि भी। प्रेम में न तो नैतिकता होती है और न ही ईश्वर के लिए कोई स्थान होता है। ईश्वर तब होता है जब प्रेमी युगल साथ-साथ होते हैं।

कवि ने 'चुप्पी के मायने' शीर्षक कविता में 'डरी हुई भीड़' का हिस्सा न बनने का आग्रह किया है। कवि ने जिस अँधेरे समय को इस कविता में रूपायित किया है उससे कवि की समय सजगता का प्रमाण मिलता है। इसी तरह, हमारे बिकाऊ ज़माने में 'अभद्र सौदागर' द्वारा जनता, जनप्रतिनिधि, पार्टी, देश ही नहीं, नैतिकता, ईमानदारी, धर्म, आदि के साथ-साथ लोकतंत्र तक को दाव पर लगाने में कोई हिचक नहीं है। इस आशय की चिंता और चेतना का साक्षात्कार 'फिर लोकतंत्र' कविता में होता है।

'डपोरशंख' दरअसल ढपोरशंख का व्यंजक है। इसकी मिथकीय कथा में गए बिना इसका अर्थ बताने से पाठकों को इस कविता में निहित कवि की चिंता और उसके सरोकार को समझने में सहायक होगा। जब कोई व्यक्ति बातें बहुत करता है पर काम कुछ नहीं करता या काम बहुत कम करता है, बातें ज़्यादा करता है तो उसे 'ढपोरशंख' कहते हैं। राजनीति में भी ढपोरशंख देश-दुनिया पर हावी हो रहे हैं जो केवल बोलते रहते हैं, करते कुछ भी नहीं। ये सत्ता में गपोड़ की तरह आए थे लेकिन मौजूदा दौर में वे डपोर में बदल गए हैं। इस कविता में कवि ने 'बदामि ददामि न' को 'बदामि न ददामि' में परिवर्तित करते हुए अर्थ-संदर्भ को व्यापक बनाया है।

बकरी पालने वाले परिवार की लड़की के माध्यम से कवि ने एक ओर ग़रीबी में भारतमाता की नई कल्पना के चित्र प्रस्तुत किए हैं तो दूसरी ओर 'अपनी-अपनी भारतमाताओं' के नाम पर स्वार्थ की पूर्ति करने वालों पर भी प्रश्नचिन्ह लगाया है। बकरी चराने वाली लड़की के माध्यम से भाषाई लोच का जो प्रयोग किया है उससे पाठक पुलकित होंगे।

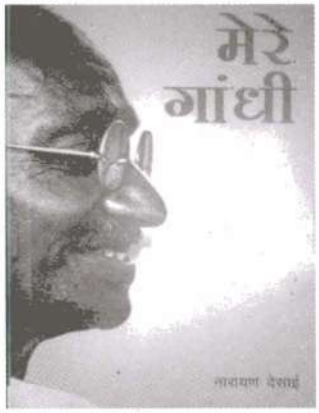
'नाम की कविता' कवि की पर्यावरणीय चिंता उजागर करती है तो 'सात साल का प्रद्युम्न' अस्पतालों में होने वाली शिशु-मृत्यु की कारुणिक स्थिति को संवेदनात्मक धरातल पर प्रस्तुत करती है।

कवि के इस संग्रह में भाषा भावों की वाहिका बनकर आती है। शब्दों की मितव्ययिता मदन कश्यप की बड़ी खूबी है। भाषा अत्यंत पारदर्शी है। भाव के अनुकूल भाषाई प्रयोग परिलक्षित होता है। इस पूरे संग्रह में देशज शब्दों का सुंदर प्रयोग मिलता है। अपने अन्य संग्रहों की तुलना में यहाँ लोक में प्रचलित शब्दों और भावों का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। कई कविताओं में अभिनव बिंब योजना हुई है। उदाहरण के तौर पर शीर्षक कविता 'पनसोखा है इंद्रधनुष' अथवा कई छोटी-छोटी कविताओं में इसके प्रमाण ढूँढे जा सकते हैं। मदन कश्यप के कवि कर्म में 'पनसोखा है इंद्रधनुष' के महत्व का ग्राफ़ ऊर्ध्वगामी है।

('पनसोखा है इंद्रधनुष', कवि : मदन कश्यप, प्रथम संस्करण- 2019, प्रकाशक : सेतु प्रकाशन, 305 प्रियदर्शनी अपार्टमेंट, पटपड़गंज, दिल्ली-92)

❑

• पुस्तक परिचय



मेरे गाँधी

प्रकाशन विभाग, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्पलेक्स, लोधी रोड, नई दिल्ली-110003

लेखक : नारायण देसाई

अनुवाद : राजेंद्र राजन

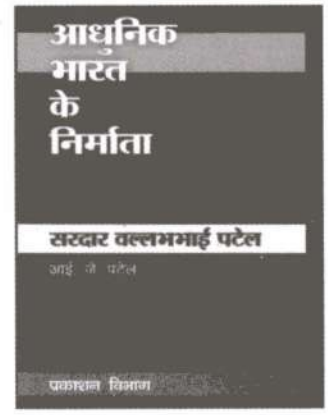
पृष्ठ : 204

मूल्य : 170 रुपये

यों तो गाँधीजी के बारे में बहुत लेखन हो चुका है और निरंतर लिखा भी जा रहा है किंतु 'मेरे गाँधी' नामक पुस्तक कुछ विशेष महत्व रखती है। 'मेरे गाँधी' पुस्तक के संबंध में महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि यह पुस्तक स्वर्गीय नारायण देसाई द्वारा मूल अंग्रेज़ी में लिखित 'माई गाँधी' का हिन्दी अनुवाद है। यह पुस्तक गाँधीजी के सान्निध्य में रहकर बड़े हुए नारायण देसाई के प्रत्यक्ष अनुभवों पर आधारित गाँधी-दर्शन का परिचय कराती है जोकि इसे न सिर्फ़ महत्वपूर्ण बनाती है बल्कि गाँधीजी को बारीकी और निकटता से समझने का अवसर भी प्रदान करती है। पुस्तक के प्राक्कथन में एक स्थान पर लेखक ने लिखा भी है, "यह किताब न तो मेरी कहानी है न गाँधी की। यह किताब यह बताने का प्रयास है कि मैंने गाँधी को कैसे जाना, समझा, न केवल उनके साहित्य के दौरान बल्कि उनके लेखन के द्वारा भी और ख़ासकर उनकी मृत्यु के बाद अपने काम के ज़रिए भी।" पुस्तक में गाँधी के सभी गुणों जैसे कि मानवमात्र की गरिमा और सामाजिक न्याय का सम्मान, सादगी, आत्मसंयम और विवेक के विकास के पीछे सत्य में उनकी परम आस्था आदि की चर्चा लेखक के निजी अनुभवों के आधार पर लिखी गई है। साथ ही सत्याग्रह, एकादश व्रत और रचनात्मक कार्यक्रम को लेखक ने दुनिया को गाँधी की तीन महान भेंट माना है। इस पुस्तक में इन तीनों पर प्रकाश डाला गया है।

'मेरे गाँधी' के प्रथम तीन अध्याय इस बात से संबंध रखते हैं कि गाँधी किस प्रकार के शख़्स थे, किन गुणों से बने थे, उनकी जड़ें कहाँ थीं तथा उनका परिवेश कैसा था। संबंधित सारी जानकारियाँ जो इस पुस्तक के माध्यम से सुधी पाठकों को उपलब्ध हो रही हैं अन्यत्र दुर्लभ-सी प्रतीत होती हैं। गाँधी के धार्मिक विचारों को भी इस पुस्तक के माध्यम से बारीकी से जाना-समझा जा सकता है। इसी प्रकार 'स्वराज' और 'स्वदेशी' नामक अध्याय हमें स्वतंत्र भारत के उनके सपने की झलक देते हैं।

अंतिम अध्याय में लेखक ने भारत में सत्याग्रह के इतिहास पर सरसरी निगाह डालते हुए कुछ ऐसे उदाहरण देने की कोशिश की है जो एक आध्यात्मिक राजनेता होने की गाँधी की अनूठी विशेषता को सामने लाते हैं। देश गाँधीजी की 150वीं जयंती मना रहा है, ऐसे में उनके जीवन तथा विचारों पर शोध करने वाले शोधार्थियों के लिए यह पुस्तक महत्वपूर्ण साबित होगी क्योंकि पुस्तक के लेखक मात्र लेखक नहीं बल्कि उनके निकट सहयोगी भी थे।



आधुनिक भारत के निर्माता : सरदार वल्लभभाई पटेल

प्रकाशन विभाग, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्पलेक्स, लोधी रोड, नई दिल्ली-110003

लेखक : आई.जे. पटेल

पृष्ठ : 126

मूल्य : 145 रुपये

आज़ादी के बाद सरदार वल्लभभाई पटेल ने देश को अनूठे ढंग से एक संपूर्ण इकाई के रूप में संगठित किया। वह सुदृढ़ इच्छाशक्ति एवं निर्भीकता के प्रतीक थे। उन्होंने 500 से अधिक रियासतों एवं रजवाड़ों के भारतीय संघ में एकीकरण की समस्या को दृढ़ता से हल किया। वह एक महान राजनेता एवं मानवीय गुणों से युक्त प्रशासक थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरंत बाद के कठिन दौर में बड़े पैमाने पर हुए राहत तथा पुनर्वास कार्य को भी उन्होंने कुशलता से निभाया। अपनी निर्भीकता और चट्टान-सी अडिगता के लिए वह लौह पुरुष कहे गए।

'आधुनिक भारत के निर्माता : सरदार वल्लभभाई पटेल' शीर्षक पुस्तक में शामिल 17 अध्यायों के माध्यम से सरदार पटेल के संपूर्ण व्यक्तित्व और कृतित्व पर बड़ी ही गहराई से प्रकाश डाला गया है। प्रथम अध्याय 'पूत के पांव पालने में' सरदार पटेल का पारिवारिक जीवन-परिचय है तो 'गाँधीजी से प्रशिक्षण' में उनके और गाँधीजी के संपर्क, सान्निध्य और गाँधीजी के प्रति उनके स्नेह को बखूबी दर्शाया गया है। 'मातृवत् स्नेह' लेख में गाँधीजी और सरदार पटेल के यरवदा जेल में 16 महीने के साथ के दौरान की घटनाओं को बड़े ही रोचक ढंग से बताया गया है। 'विशिष्ट राजनेता' अध्याय से पता चलता है कि सरदार पटेल ने एक कुशल गृहमंत्री की भूमिका भी निभाई है।

'बलिदान' शीर्षक अध्याय से यह साबित होता है कि सरदार पटेल का दर्शन पूरी तरह स्पष्ट था। वे कहते थे : "हमारा कल्याण न तो राज्य के हाथों में है और न ज़मींदारों के हाथों में। हमारा कल्याण हमारे अपने हाथों में है।" एक बार उन्होंने कार्यकर्ताओं को स्पष्ट किया था कि यह याद रखना बहुत ही महत्वपूर्ण है कि वे अपने उत्कृष्ट चरित्र के ज़रिए ही लोगों पर प्रभाव डाल सकेंगे। लोग केवल कार्यकताओं के' त्याग, संयम, निस्वार्थ सेवा और धैर्य से प्रभावित होते है। सभी उतार-चढ़ाव के बावजूद एक सार्वजनिक कार्यकर्ता अपने इन्हीं चारित्रिक गुणों से लोगों के हृदय में अपना स्थान हमेशा के लिए बना सकता है।

इस प्रकार सरदार पटेल के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं को इस पुस्तक में बड़े ही सरल और सरस ढंग से वर्णित किया गया है। पुस्तक के लेखक आई.जे. पटेल सरदार पटेल विश्वविद्यालय, विद्यानगर, गुजरात के कुलपति रहे। उन्होंने कई पुस्तकें लिखीं, जिनमें से कुछ को प्रतिष्ठित पुरस्कार प्राप्त हुए।

प्रस्तुति : **रेमी कुमारी**

हमारे प्रकाशन



प्रकाशन विभाग
सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार
सूचना भवन, सी जी ओ कॉम्पलेक्स, लोधी रोड
नई दिल्ली -110003
वेबसाइट : www.publicationsdivision.nic.in

ऑर्डर के लिए संपर्क करें-
फोन : 011-24367260, 24365609
ई मेल : businesswng@gmail.com
पुस्तकें ऑनलाइन खरीदने के लिए bharatkosh.gov.in पर लॉग इन करें
चुनिंदा पुस्तकें ईबुक के रूप में भी उपलब्ध, इसके लिए
amazon.in और play.google.com पर जाएं

Follow us on twitter @DPD_India

डाक तार पंजीयन सं. डी एल (एस) – 05/3222/2018-20 बिना पूर्व भुगतान के साथ आर.एम.एस. दिल्ली से पोस्ट करने के लिए लाइसेंस यू (डी एन)–49/2018-20

Postal Regn. No. DL (S) - 05/3222/2018-20 दिल्ली डाक आर एन आई 701/57

Licenced U (DN) - 49/2018-20 to post without pre-payment at RMS Delhi Delhi Postal RNI 701/57

• 10 नवंबर 2019 को प्रकाशित • 21-22 नवंबर 2019 को डाक द्वारा जारी • वार्षिक मूल्य : ₹ 230



प्रकाशक व मुद्रक : ईरा जोशी, प्रधान महानिदेशक द्वारा प्रकाशन विभाग के लिए एजूकेशनल स्टोर्स, गाजियाबाद (उ.प्र.) से मुद्रित एवं प्रकाशन विभाग, सूचना भवन सीजीओ कॉम्पलेक्स, लोधी रोड, नई दिल्ली-110003 से प्रकाशित ।

संपादक : फरहत परवीन